CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वोदय पुस्तकमाला, पुष्प-१४

निर्ग्रन्थ प्रवचन

आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वोदय पुस्तकमाला, पुष्प-१४

निर्ग्रन्थ प्रवचन

आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

◆

प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
श्रीमहावीरजी-३२२२२० (राज.)

◆

प्राप्ति स्थान
१. जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी
२. अपभ्रंश साहित्य अकादमी
दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड
जयपुर-३०२००४

◆

प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९९७, ५०००

◆

मूल्य : ७.०० रु.
२ $

◆

मुद्रक
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड
जयपुर-३०२००१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ. लल्लूलाल जैन (बड़जात्या)
एवं उनकी धर्मपत्नी
श्रीमती विमलादेवी जैन
के द्वारा
पिता स्व. गैन्दीलालजी बड़जात्या
की
स्मृति में
प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में
प्रदत्त आर्थिक सहयोग
के लिए
हम आभारी हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिचय

स्व. श्री गैंदीलालजी बड़जात्या पुत्र श्री चान्दूलालजी का जन्म जयपुर नगर में ई. सन् १८८७ में तथा स्वर्गवास दिनांक १९.०२.१९५७ को हुआ था। बचपन से ही ये अपनी दादी के साथ सायंकाल शास्त्रसभा में जाते थे। जहाँ इनकी दादी शास्त्र-सभा के बाद विनती-भजन आदि गाती थीं। प्रतिदिन शास्त्र-सभा में जाने का आप पर इतना प्रभाव पड़ा कि आपने १० वर्ष की आयु में ही स्वाध्याय करने का नियम ले लिया और जिसे जीवन-पर्यन्त निभाया। आपने अपने जीवनकाल में गोम्मटसार, समयसार आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन किया। जिसके फलस्वरूप आपका धार्मिक ज्ञान भी काफी अच्छा था। अपनी दादी द्वारा विनती-भजन गाये जाने का इन पर इतना प्रभाव पड़ा कि आपने १६ वर्ष की आयु में (श्रावण शुक्ला १४) सन् १९०२ में एक संगीत-मण्डली की स्थापना की। उस समय राजकीय अवकाश शुक्रवार को होता था। अतः इस मण्डली का नाम 'बाल सहैली शुक्रवार' रखा जो अब तक चल रही है। वे प्रत्येक शुक्रवार को विभिन्न मन्दिरों, चैत्यालयों में जाकर प्रातः पूजन तथा रात को आध्यात्मिक भजन गाते थे। शास्त्रीय संगीत का आपको अच्छा ज्ञान था। आप अपने समय के प्रसिद्ध शास्त्रीय संगीतज्ञों में माने जाते ते। वे कहते थे कि अगर मानव संगीत का सही उपयोग करे तो वह जीवन को आध्यात्मिकता की ओर ले जा सकता है। सरागता से वीतरागता की ओर जाने का इतना मनोरम मार्ग और कोई नहीं है। रात्रिकालीन भजन (जागरण) में वे श्याम कल्याण/इमन कल्याण रागिनी से प्रारंभ कर समयानुसार रागिनियों में भजन गाकर प्रातःभैरवी, प्रभाती, आसावरी राग में समापन करते थे। उनका कहना था कि समय के विपरीत राग (अ-समय की राग) में भजन गाने से उस स्थान के यक्षदेवता अप्रसन्न होते हैं जिससे विनाश होता है।

आपके तीन पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र पं. भँवरलालजी न्यायतीर्थ थे जो अपनी विद्वता के कारण भारत के प्रसिद्ध विद्वानों में माने जाते थे। आपको आचार्य श्री १०८ विद्यानन्दजी मुनिराज की प्रेरणा से 'वीर निर्वाण भारती' मेरठ द्वारा दिल्ली में 'समाज-रत्न' की उपाधि से सम्मानित किया गया था। दूसरे पुत्र पं. मुन्नालालजी हैं जिन्हें धर्म का अच्छा ज्ञान है और निरन्तर स्वाध्याय में रत रहते हैं। तीसरे पुत्र डॉ. लल्लूलालजी हैं जो जयपुर के माने हुए अनुभवी होम्योपैथिक चिकित्सक हैं। आप और आपकी धर्मपत्नी श्रीमती विमलादेवी आचार्य श्री १०८ विद्यानन्दजी मुनिराज के सन् १९६४ से अनन्य भक्त हैं।

८१३, सेवापथ, चौ. मोदीखाना — निर्मलकुमार बड़जात्या
जयपुर ३०२ ००३ — सुरेन्द्रमोहन बड़जात्या
फोन : ३२३७५४, ३१३४२९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरम्भिक

हमें 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' पुस्तक पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

यह सर्वविदित है कि तीर्थंकर महावीर ने जनभाषा प्राकृत में उपदेश देकर सामान्यजनों के लिए विकास का मार्ग प्रशस्त किया। जनभाषा प्रवाहशील होती है। प्राकृत भाषा ही अपभ्रंश के रूप में विकसित होती हुई प्रादेशिक भाषाओं एवं हिन्दी की स्रोत बनी।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृत-अपभ्रंश हमारे सिद्धान्त-ग्रन्थों व अमर काव्यों की भाषा है। इनको जाने बिना संस्कृति का संरक्षण संभव नहीं है। यह व्यक्त करते हुए हमें हर्ष है कि आचार्य श्री १०८ विद्यानन्दजी मुनिराज ने प्राकृत-अपभ्रंश के प्रति जन-आस्था को पुनर्स्थापित करने का दुष्कर कार्य कर हमें चिर ऋणी बनाया है। जिन माध्यमों से यह कार्य किया गया है उन्हीं का संकलन आचार्यश्री ने 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' पुस्तक में करके अपने अपूर्व प्रयोग को स्थायित्व प्रदान किया है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि जैनविद्या संस्थान समिति के संयोजक डॉ. कमलचन्द सोगाणी ने आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज से निवेदन करके उनके द्वारा सम्पादित 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' पुस्तक प्राप्त की और उसे जैनविद्या संस्थान से प्रकाशित करने का निर्णय लिया। प्रकाशन अनुमति के लिए हम आचार्य श्री १०८ विद्यानन्दजी मुनिराज के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

इस पुस्तक का विक्रय-मूल्य कम करने के लिए डॉ. लल्लूलालजी जैन (बड़जात्या) एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विमलादेवी से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। उनके प्रति हम हृदय से अपना आभार व्यक्त करते हैं।

प्रबन्धकारिणी कमेटी की भावना के अनुरूप डॉ. सोगाणी कम कीमत पर सत्साहित्य उपलब्ध कराने के लिए जो प्रयास कर रहे हैं वह श्लाघनीय है। पुस्तक प्रकाशन के लिए सहयोगी कार्यकर्त्ता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

बलभद्रकुमार जैन
संयुक्त मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

तीर्थंकरों की आध्यात्मिक परम्परा से प्रेरित होकर आचार्य अमृतचन्द्र[१] ने कहा कि जो व्यक्ति पर के प्रति संवेदनशील नहीं है वह आत्मविकास के मार्ग पर चलने में समर्थ नहीं होगा। जो पर के प्रति आँख मींच लेता है वह क्षुद्र स्वार्थ का पोषण करता हुआ पतन के मार्ग पर ही गतिशील होता है। इस तरह से समाज और उसके घटकों के प्रति हमारा दायित्व आत्मविकास की पूर्व शर्त है। भाषा इस विकास के लिए अति आवश्यक उपकरण है। "भाषा के शब्द ही अर्थ का वाहन बनते हैं और अर्थ को हृदय तक पहुँचा सकते हैं।"[२] अतः लोक समुन्नत हो इसके लिए लोक-भाषा का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है और सम्यक् कदम है। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीर ने धर्म-प्रचार के निमित्त तत्कालीन लोक-भाषा 'प्राकृत' का प्रयोग किया। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि वैदिक काल से ही प्राकृत भाषा का अस्तित्व रहा है। यदि हम यह कहें कि वैदिक भाषा प्राकृत के तत्त्वों को प्रचुर मात्रा में समेटे हुए है तो अत्युक्ति नहीं होगी। "यथार्थ में वेदों तथा वैदिक युग की रचना से लेकर आज तक जो भी साहित्य उपलब्ध होता है वह स्पष्टरूप में प्राकृतों की छाप लिये हुए है। इस देश के किसी एक

---

१. न कदाचिनापि परवेदनां विना निजवेदना जिन जिनस्य जायते।
गजमीलनेन निपतन्ति बालिशाः परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिता ॥१३.९॥
—लघुतत्त्वस्फोट

अर्थ – हे जिनेन्द्र ! पर के प्रति संवेदना के बिना मनुष्य को कभी भी निज का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। पर के प्रति संवेदन की शक्ति से रहित हुए चेतन की उपासना में मोहित अज्ञानी नीचे गिर जाते हैं, जैसे – आँख मूँदने के कारण हाथी नीचे गिर जाते हैं।

(आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज ने मेरा ध्यान इस महत्त्वपूर्ण श्लोक की ओर आकर्षित किया इसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ।)

२. आचार्य विद्यानन्द मुनिराज, जयपुर चातुर्मास प्रवचन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाग में नहीं किन्तु उत्तर से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व तथा पूर्व से दक्षिण तक की लगभग सभी भाषाएँ एवं बोलियाँ प्राकृत से प्रभावापन्न रही हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित शब्द हैं – चरु (ऋग्वेद, ९,५२,३) = बृहत् काष्ठपात्र। प्राकृत में यह 'चरु'; बुन्देली–बिहारी में 'चरुआ'; ब्रज में 'चरुवा', हिन्दी में 'चरु', 'चरुआ', गुजराती में 'चरु'; मराठी–लहंदा में 'चर्वी' और सिन्धी में 'चरू' है।''[१]

वेदों का अध्ययन प्राकृत के ज्ञान के बिना करना दुस्साहस है और भटकानेवाला है। भगवान महावीर के उपदेशों को गणधरों ने प्राकृत भाषा में गूँथा और इस तरह से प्राकृत का विशाल साहित्य तैयार हो गया। धार्मिक–ग्रन्थों की भाषा प्राकृत होने के कारण जैनों की प्राकृत भाषा के प्रति भक्ति समीचीन है। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि प्राकृत के विभिन्न भेदों में शौरसेनी प्राकृत सर्वाधिक प्राचीन है। इसी में प्रथम शताब्दी पूर्व से लगाकर सोलहवीं शताब्दी तक दिगम्बर जैन आचार्यों ने अपना साहित्य लिखा। गुणभद्र, पुष्पदंत–भूतबलि, कुन्दकुन्द, यतिवृषभ, नेमीचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती, वसुनन्दि आदि आचार्यों ने शौरसेनी प्राकृत को साहित्य का माध्यम बनाया।

कुछ शताब्दियों तक प्राकृत में विभिन्न प्रकार का साहित्य लिखा जाता रहा। यह वास्तविकता है कि लोकभाषा बदलती चलती है, जो बदलती चलती है वही लोकभाषा होती है। धीरे–धीरे नई भाषा का जन्म अपभ्रंश भाषा के रूप में हुआ और ईसा की छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए सशक्त माध्यम बन गई। विद्वानों का मत है – ''अपभ्रंश ही वह आर्य भाषा है जो ईसा की लगभग सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत की सामान्य लोक–जीवन के परस्पर भाव–विनिमय और व्यवहार की बोली रही है।'' डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार शौरसेनी अपभ्रंश राष्ट्रभाषा बन गई थी। पश्चिम से पूर्व तक उसी का प्रयोग होता था।'' अपभ्रंश की कोख से ही सिन्धी, पंजाबी, मराठी,

---

१. अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृ. १४–१५, प्र. – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९९६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुजराती, राजस्थानी, बिहारी, उड़िया, बंगला, असमी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ है। "अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध अत्यन्त गहरा और सुदृढ़ है, वे एक-दूसरे की पूरक हैं। हिन्दी को ठीक से समझने के लिए अपभ्रंश की जानकारी आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।" डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश की प्रायः पूरी परम्पराएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं।" इसलिए अपभ्रंश का अध्ययन राष्ट्रीय चेतना और एकता का पोषक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राकृत-अपभ्रंश का महत्त्व सामान्यतया भारतीय संस्कृति और विशेषतया जैन संस्कृति के लिए निर्विवाद है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; किन्तु विभिन्न कारणों से भारतीय जीवन में प्राकृत-अपभ्रंश को उनकी गरिमा के अनुकूल प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकी है। हमें लिखते हुए हर्ष है कि आचार्य विद्यानन्दजी मुनिराज जन-मानस में प्राकृत-अपभ्रंश की प्रतिष्ठा के लिए सतत जागरूक हैं/प्रयत्नशील हैं क्योंकि **"भाषा को भूलना संस्कृति को भूलना है।"**[१] इसी चिन्तन के फलस्वरूप आचार्यश्री ने जयपुर-चातुर्मास, १९९७ के अवसर पर जो प्रयोग किये वे उन्हीं की मौलिक सूझ-बूझ हैं और उन्हीं प्रयोगों का संकलन 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' में किया गया है जिससे ये प्रयोग बराबर चलते रहें और हमारे मानस-पटल पर प्राकृत-अपभ्रंश का प्रभाव अंकित हो जाये। इन प्रयोगों के साथ ही आचार्यश्री ने पाँच लेखों तथा उनके द्वारा चयनित तीन भजनों का संकलन 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' में किया है। इस तरह से यह पुस्तक भविष्य में हमारा मार्गदर्शन करेगी, ऐसी भावना है।

आचार्यश्री ने 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' पुस्तक जैनविद्या संस्थान को प्रकाशन के लिए सौंपी, इसके लिए हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। आशा की जाती है कि इस पुस्तक का जन-जन में प्रचार होगा। इसके द्वारा प्राकृत-अपभ्रंश को जनमानस हृदयंगम कर सकेगा तथा जीवन-मूल्यों के प्रति अपनी निष्ठा को जगा सकेगा। मुझे लिखते हुए गर्व है कि आचार्यश्री ने हमारा ध्यान जैनधर्म के एक उदात्त विचार की ओर आकर्षित किया है,

---

१. आचार्य विद्यानन्द मुनिराज, जयपुर चातुर्मास प्रवचन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह विचार है – निज की शान्ति की प्राप्ति के लिए तो हर व्यक्ति भावना भाता है किन्तु जैनधर्म ने हमें सिखाया है कि पर की शान्ति की भावना भाना भी मंगलमय विचार है। अतः कहा है – "भगवान जिनेन्द्र (तीर्थंकर) भावपूर्वक पूजा करनेवालों के लिए, मुनियों, सामान्यजनों व तपस्वियों के लिए, रक्षा करनेवालों के लिए, नगर, प्रान्त, राष्ट्र और शासक के लिए शान्ति प्रदान करें।"[१]

"सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण हो, शक्तिशाली धर्मात्मा भूमिपाल (शासन, राज्य में) प्रभावशील रहें। समय-समय पर इन्द्र (मेघ) भली प्रकार यथोचित वर्षा करें, व्याधियों का नाश हो। दुष्काल, चौर और महामारी जगत को कष्ट देने के लिए क्षणभर न हों और सबको सुख प्रदान करनेवाला तीर्थंकर वृषभादि का जिन-शासन और धर्मचक्र विश्व में निरन्तर प्रभावशील रहे।"[२]

इस पुस्तक का विक्रय-मूल्य कम करने में श्रीमती विमलादेवी धर्मपत्नी डॉ. लल्लूलालजी जैन (बड़जात्या) ने आर्थिक सहयोग दिया है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

पुस्तक के प्रकाशन में सहयोगी कार्यकर्ता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

तीर्थंकर नेमिनाथ ज्ञान-कल्याणक दिवस
आश्विन शुक्ल एकम्
वीर निर्वाण संवत् २५२३
२ अक्टूबर, १९९७

डॉ. कमलचन्द सोगाणी
संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति

---

१. संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र-सामान्य-तपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः॥

२. क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः।
काले काले च वृष्टिं वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य-प्रदायि॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-अनुक्रमणिका

आरम्भिक (v)

प्रकाशकीय (vi)

१. प्राकृत भाषा - चयनित अंश
- (i) समयसार-गाथाएँ ३
- (ii) सोहं-गाथाएँ ८
- (iii) णिग्गंठ पवयणं १४

२. अपभ्रंश भाषा – चयनित अंश
- (i) स्तुति २१
- (ii) परमात्मप्रकाश-दोहे २३
- (iii) णिग्गंठ-पवयणु २८

३. हिन्दी भजन
- (i) अब हम अमर भये ३४
- (ii) आतम अनुभव करना ३५
- (iii) चरखा चलता नाहीं ३६

४. हिन्दी लेख
- (i) भ्रष्टाचार मिटे तो ग़रीबी हटे ३९
- (ii) स्व-पर ज्ञान : समता की खान ४९
- (iii) मिली है मनुष्य गति तो जगाओ विवेकमति ५८
- (iv) आलस त्यागो, पुरुषार्थ जगाओ ६४
- (v) पहिले तोलो, फिर बोलो ७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत भाषा

चयनित अंश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार

□ आचार्य कुन्दकुन्द

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥ १ ॥

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि हे भव्यजीवो! मैं शाश्वत, अचल और अनुपम गति (पंचम गति) को प्राप्त हुए सभी सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों द्वारा कहे गये इस समयप्राभृत (समयसार) को कहूँगा।

वंदित्तु = नमस्कार करके, **सव्व-सिद्धे** = सभी-सिद्धों को, **धुवमचलमणोवमं** = **धुवं-अचलं-अणोवमं** = शाश्वत-अचल-अनुपम, **गदिं** = गति को, **पत्ते** = प्राप्त हुए, **वोच्छामि** = कहूँगा, **समयपाहुडमिणमो** = **समय-पाहुडं-इणं-ओ** = समय-प्राभृत (समयसार) को – इस – हे भव्य जीवो!, **सुद-केवली-भणिदं** = श्रुत-केवलियों द्वारा कहे गये।

जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाणे ।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है उसे निश्चय से स्व-समय जानो और जो जीव पौद्‌गलिक कर्म-प्रदेशों में स्थित है उसको पर-समय जानो।

जीवो = जीव, **चरित्त-दंसण-णाण-ठिदो** = चारित्र-दर्शन-ज्ञान में – स्थित, **तं** = उसे, **हि** = निश्चय से, **स-समयं** = स्व-समय, **जाणे** = जाणो, **पोग्गल-कम्म-पदेस-ट्ठिदं** = पौद्‌गलिक-कर्म-प्रदेशों में-स्थित, **च** = और, **तं** = उसको, **जाण** = जानो, **पर-समयं** = पर-समय।

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ॥ ३ ॥

निश्चित रूप से अभेदरत्नत्रयरूप को प्राप्त जो शुद्ध आत्मा है वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है, इसलिए अभेदरत्नत्रयरूप शुद्ध आत्मा के स्थान पर बन्ध की कथा करना निराशा उत्पन्न करनेवाली होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एयत्त-णिच्छय-गदो = अभेदरत्नत्रय रूप को-निश्चित रूप से-प्राप्त, **समओ** = शुद्ध आत्मा, **सव्वत्थ** = सर्वत्र, **लोगे** = लोक में, **सुंदरो** = सुन्दर, **बंध-कहा** = बंध की कथा करना, **एयत्ते** = अभेदरत्नत्रयरूप शुद्ध आत्मा के स्थान पर, **तेण** = इसलिए, **विसंवादिणी** = निराशा उत्पन्न करनेवाली, **होदि** = होती है।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

काम, भोग और बन्ध की कथा सभी जीवों की सुनी हुई है, सभी इससे परिचित हैं और सभी के अनुभव में आई हुई है। केवल रागादि से रहित अभेदरत्नत्रयरूप शुद्ध आत्मा की प्राप्ति सुलभ नहीं है।

सुदपरिचिदाणुभूदा = **सुद-परिचिद-अणुभूदा** = सुनी हुई – परिचित – अनुभव में आई हुई, **सव्वस्स-वि** = सभी जीवों की, **काम-भोग-बंध-कहा** = काम-भोग-बंध-कथा, **एयत्तस्सुवलंभो** = **एयत्तस्स-उवलंभो** = अभेदरत्नत्रयरूप शुद्ध आत्मा की – प्राप्ति, **णवरि** = केवल, **ण** = नहीं, **सुलहो** = सुलभ, **विहत्तस्स** = रागादि से रहित।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥५॥

उस पूर्वोक्त रागादि से रहित अभेदरत्नत्रयरूप शुद्ध आत्मा को अपनी निजी शक्ति से मैं दिखलाऊँगा (दिखलाता हूँ)। यदि मैं दिखा सकूँ तो उसे प्रमाण मानना। यदि कहीं चूक जाऊँ तो विपरीत भाव (दुर्जन के समान विपरीत अभिप्राय) ग्रहण नहीं कर लेना।

तं = उस, **एयत्त-विहत्तं** = अभेदरत्नत्रयरूप शुद्धआत्मा को-रागादि से रहित, **दाएहं** = दिखलाऊँगा (दिखलाता हूँ), **अप्पणो** = अपनी, **स-विहवेण** = निजी-शक्ति से, **जदि** = यदि, **दाएज्ज** = दिखला सकूँ, **पमाणं** = प्रमाण मानना, **चुक्केज्ज** = चूक जाऊँ, **छलं** = विपरीत भाव, **ण-घेत्तव्वं** = नहीं-ग्रहण कर लेना।

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥६॥

जो ज्ञायक भाव है वह न ही अप्रमत्त है न प्रमत्त है, इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो (ज्ञायकरूप से) ज्ञात हुआ है वह तो (स्वरूप जानने की अवस्था में भी) वह ही (शुद्ध ज्ञायक) है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ण = न, **वि** = हि, **होदि** = है, **अप्पमत्तो** = अप्रमत्त, **ण** = न, **पमत्तो** = प्रमत्त, **जाणगो** = ज्ञायक, **दु** = पादपूरक, **जो** = जो, **भाव** = भाव, **एवं** = इस प्रकार, **भणंति** = कहते हैं, **सुद्धं** = शुद्ध, **णादो** = ज्ञात हुआ है, **जो** = जो, **सो** = वह, **दु** = तो, **सो** = वह, **चेव** = ही (स्वरूप जानने की अवस्था में भी शुद्ध ज्ञायक ही है)।

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७॥

ज्ञानी के ज्ञान–दर्शन–चारित्र – ये तीन भाव व्यवहारनय से कहे जाते हैं, निश्चयनय से न ही दर्शन है, न ज्ञान है, न चरित्र है। वह तो ज्ञायक शुद्ध भाव है।

ववहारेणुवदिस्सदि = ववहारेण–उवदिस्सदि = व्यवहारनय से – कहे जाते हैं, **णाणिस्स** = ज्ञानी के, **चरित्त–दंसणं** = चारित्र–दर्शन, **णाणं** = ज्ञान, **ण वि** = न ही, **णाणं** = ज्ञान, **ण** = न, **चरित्तं** = चारित्र, **ण** = न, **दसणं** = दर्शन, **जाणगो** = ज्ञायक, **सुद्धो** = शुद्ध भाव।

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८॥

जैसे अनार्य को अनार्य भाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराना संभव नहीं है उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करना संभव नहीं है।

जह = जैसे, **ण वि** = नहीं, **सक्कमणज्जो** = सक्कं–अणज्जो = संभव–अनार्य को, **अणज्ज–भासं** = अनार्य–भाषा के, **विणा** = बिना, **दु** = पादपूरक, **गाहेदुं** = अर्थ ग्रहण कराना, **तह** = उसी प्रकार, **ववहारेण** = व्यवहार के, **विणा** = बिना, **परमत्थुवदेसणमसक्कं** = परमत्थ–उवदेसणं–असक्कं = परमार्थ का–उपदेश–संभव नहीं।

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥ ९॥
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
सुदणाणमाद सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ॥ १०॥

जो जीव वास्तव में श्रुतज्ञान (भावश्रुत) से इस अद्वितीय शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है उसको लोक के प्रकाशक ऋषि निश्चय श्रुतकेवली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं। जो जीव समस्त श्रुतज्ञान (द्रव्यश्रुत) को केवल जानता है उसे जिनदेव (व्यवहार) श्रुतकेवली कहते है, क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतज्ञान (द्रव्यश्रुत) (के आधार से उत्पन्न फल भावश्रुत) आत्मा होता है। इस कारण वह (व्यवहार) श्रुतकेवली है।

जो = जो (जीव), **हि** = वास्तव में, **सुदेणहिगच्छदि** = **सुदेण-अहिगच्छदि** = श्रुतज्ञान से-अनुभव करता है, **अप्पाणमिणं** = **अप्पाणं-इणं** = आत्मा का-इस, **केवलं** = अद्वितीय, **सुद्धं** = शुद्ध, **तं** = उसको, **सुदकेवलिमिसिणो** = **सुद-केवलिं-इसिणो** = श्रुत-केवली-ऋषि, **भणंति** = कहते हैं, **लोय-प्पदीवयरा** = लोक के-प्रकाशक, **भणंति** = कहते हैं।

जो = जो (जीव), **सुद-णाण** = श्रुत-ज्ञान, **सव्वं** = समस्त, **जाणदि** = जानता है, **सुद-केवलिं** = (व्यवहार) श्रुत-केवली, **तमाहु** = **तं-आहु** = उसे-कहते हैं, **जिणा** = जिनदेव, **सुदणाणमाद** = **सुदणाणं-आद** = श्रुतज्ञान (के आधार से उत्पन्न फल भावश्रुत) आत्मा, **सव्वं** = सम्पूर्ण, **जम्हा** = क्योंकि, **सुद-केवली** = (वह) श्रुत-केवली, **तम्हा** = इस कारण।

ववहारों अभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥

व्यवहारनय अभूतार्थ (अवास्तविक) है और निश्चयनय भूतार्थ (वास्तविक) बताया गया है। जो जीव भूतार्थ (वास्तविकता) के आश्रित है निश्चय ही वह सम्यग्दृष्टि है।

व्यवहारो = व्यवहारनय, **अभूदत्थो** = अभूतार्थ (अवास्तविक), **भूदत्थो** = भूतार्थ (वास्तविक), **देसिदो** = बताया गया है, **दु** = और, **सुद्धणओ** = निश्चयनय, **भूदत्थमस्सिदो** = **भूदत्थं-अस्सिदो** = भूतार्थ के-आश्रित, **खलु** = निश्चय ही, **सम्मादिट्ठी** = सम्यग्दृष्टि, **हवदि** = है, **जीवो** = जीव।

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥१२॥

परमभाव (शुद्धात्मभाव) के दर्शियों के द्वारा शुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाला निश्चयनय जानने योग्य है और जो भी जीव अशुद्ध भाव में (श्रावक की अपेक्षा शुभोपयोग में एवं प्रमत्त-अप्रमत्त की अपेक्षा भेदरत्नत्रय में) स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनय का उपदेश किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुद्धो = निश्चयनय, **सुद्धादेसो** = **सुद्ध-आदेसो** = शुद्ध द्रव्य का-कथन करनेवाला, **णादव्वो** = जानने योग्य, **परमभाव-दरिसीहिं** = परमभाव के-दर्शियों द्वारा, **ववहार-देसिदा** = (उनके लिए) व्यवहारनय का-उपदेश किया गया है, **पुण** = और, **जे** = जो (जीव), **दु** = भी, **अपरमे** = अशुद्ध, **ठिदा** = स्थित-**भावे** = भाव में।

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थ (निश्चयनय) से जाने हुए जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं।

भूदत्थेणाभिगदा = **भूदत्थेण-अभिगदा** = भूतार्थ से-जाने हुए, **जीवाजीवा** = **जीवा-अजीवा** = जीव-अजीव, **पुण्ण-पावं** = पुण्य-पाप, **आसव-संवर-णिज्जर-बंधो** = आस्रव-संवर-निर्जरा-बंध, **मोक्खो** = मोक्ष, **य** = और, **सम्मत्तं** = सम्यक्त्व।

पर को अपना मान बैठा, निज को पहिचाना नहीं।
भूल है यह आपकी जो आपको जाना नहीं ॥
आपको जाने बिना परमात्म-पद पाना नहीं।
परमात्म-पद पाकर फिर संसार में आना नहीं ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोहं

(१) केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहावो सुहमइओ ।
केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतदे णाणी ॥

जो अनन्तज्ञान स्वभाववाला है, जो अनन्तदर्शन स्वभाववाला है, जो अनन्त सुखमय है और जो अनन्तशक्ति स्वभाववाला है – वह मैं हूँ। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानी विचार करता है।

केवल-णाण-सहावो = अनन्त-ज्ञान-स्वभाववाला, **केवल-दंसण-सहावो** = अनन्त-दर्शन-स्वभाववाला, **सुह-मइओ** = (अनन्त) सुख-मय, **केवल-सत्ति-सहावो** = अनन्त-शक्ति-स्वभाववाला, **सो-हं** = वह-मैं, **इदि** = इस प्रकार, **चिंतदे** = विचार करता है, **णाणी** = सम्यग्ज्ञानी।

(२) णियभावं ण वि मुञ्चदि, परभावं णेव गिण्हदे केइ ।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोहं इदि चिंतदे णाणी ॥

जो स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता, किसी प्रकार के परभाव को कभी ग्रहण नहीं करता और सबको जानता-देखता है वह मैं हूँ, इस प्रकार सम्यग्ज्ञानी चिंतन करता है।

णिय-भावं = स्व-भाव को, **ण वि** = कभी नहीं, **मुञ्चदि** = छोड़ता है, **पर-भावं** = पर-भाव को, **णेव** = कभी नहीं, **गिण्हदे** = ग्रहण करता है, **केइ** = किसी प्रकार के, **जाणदि** = जानता है, **पस्सदि** = देखता है, **सव्वं** = सबको, **सो-हं** = वह-मैं, **इदि** = इस प्रकार, **चिंतदे** = चिंतन करता है, **णाणी** = सम्यग्ज्ञानी।

(३) पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहि वज्जिदो अप्पा ।
सोहं इदि चिंतिज्जो, तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥

जो आत्मा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश-बंध से रहित है वह मैं हूँ। इस प्रकार ज्ञानी आत्मा चिंतन करता है और उसी में स्थिर भाव को प्राप्त करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पयदि-ट्ठिदि-अणुभाग-प्पदेस-बंधेहि = प्रकृति-स्थति-अनुभाग-प्रदेश-बंध से, **वज्जिदो** = रहित, **अप्पा** = आत्मा, **सो-हं** = वह-मैं, **इदि** = इस प्रकार, **चिंतिज्जो** = चिंतन करता है, **तत्थेव** = वहाँ ही, **य** = और, **कुणदि** = प्राप्त करता है, **थिर-भावं** = स्थिर-भाव को।

(४) रागादिभावकम्मा, मज्झ सहावा ण कम्मजा जम्हा ।
जो संवेयणगाही, सोहं णादा हवे आदा ॥

रागादि भावकर्म मेरे स्वभाव नहीं हैं; क्योंकि वे तो कर्मजन्य होते हैं जो अनुभव से (अपने स्वभाव को) प्राप्त करनेवाला होता है, वह ज्ञाता आत्मा मैं हूँ।

रागादि-भाव-कम्मा = रागादि-भाव-कर्म, **मज्झ** = मेरे, **सहावा** = स्वभाव, **ण** = नहीं, **कम्मजा** = कर्मजन्य, **जम्हा** = क्योंकि, **जो** = जो, **संवेयण-गाही** = अनुभव से – (अपने स्वभाव को) प्राप्त करनेवाला, **सो-हं** = वह-मैं, **णादा** = ज्ञाता, **हवे** = होता है, **आदा** = आत्मा।

(५) परभावादो सुण्णो, संपुण्णो जो हु होदि सब्भावो ।
जो संवेयणगाही, सोहं णादा हवे आदा ॥

जो परभाव से शून्य है, जो परिपूर्ण स्वभाववाला है, जो अनुभव से (अपने स्वभाव को) प्राप्त करनेवाला होता है, वह ज्ञाता आत्मा मैं हूँ।

परभावादो = परभाव से, **सुण्णो** = शून्य, **संपुण्णो** = परिपूर्ण, **जो** = जो, **होदि** = होता है, **सब्भावो** = स्वभाववाला, **जो** = जो, **संवेयण-गाही** = अनुभव से- (अपने स्वभाव को) प्राप्त करनेवाला, **सो-हं** = वह-मैं, **णादा** = ज्ञाता, **हवे** = होता है, **आदा** = आत्मा।

(६) जडसब्भावं णहु मे, जम्हा तं भणिदं जाण जडदव्वे ।
जो संवेयणगाही, सोहं णादा हवे आदा ॥

मेरा अचेतन स्वभाव बिल्कुल नहीं हैं, क्योंकि वह तो अचेतन द्रव्य में कहा गया है – ऐसा समझो। जो अनुभव से (अपने स्वभाव को) प्राप्त करनेवाला होता है, वह ज्ञाता/चैतन्य आत्मा मैं हूँ।

जड-सब्भावं = जड़-स्वभाव, **णहु** = बिल्कुल नहीं, **मे** = मेरा, **जम्हा** = क्योंकि, **तं** = वह, **भणिदं** = कहा गया है, **जाण** = समझो, **जड-दव्वे** = अचेतन द्रव्य में, **जो** =

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो, संवेयण-गाही = अनुभव से – प्राप्त करनेवाला, सो-हं = वह-मैं, णादा = ज्ञाता, हवे = होता है, आदा = आत्मा।

(७) मज्झ सहावं णाणं, दंसणचरणं ण कोवि आवरणं।
जो संवेयणगाही, सोहं णादा हवे आदा॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र मेरा स्वभाव है, कोई भी आवरण मेरा स्वभाव नहीं है। जो अनुभव से (अपने स्वभाव को) प्राप्त करनेवाला होता है वह ज्ञाता आत्मा मैं हूँ।

मज्झ = मेरा, सहावं = स्वभाव, णाणं = ज्ञान, दंसण = दर्शन, चरणं = चारित्र, ण = नहीं, को वि = कोई भी, आवरणं = आवरण, जो = जो, संवेयण-गाही = अनुभव से – प्राप्त करनेवाला, सो-हं = वह-मैं, णादा = ज्ञाता, हवे = होता है, आदा = आत्मा।

(८) घादि-चदुक्कं चत्ता संपत्तं परमभावसब्भावं।
जो संवेयणगाही, सोहं णादा हवे आदा॥

जिसके द्वारा चार घातिया कर्म-समूह नष्ट किए गए हैं, व परम-पारिणामिक स्वभाव प्राप्त किया गया है, जो अनुभव से (अपने स्वभाव को) प्राप्त करनेवाला होता है, वह ज्ञाता आत्मा मैं हूँ।

घादि-चदुक्कं = घातियाकर्म-चार का समूह, चत्ता = नष्ट किए गए हैं, संपत्तं = प्राप्त किया गया है, परम-भाव-सब्भावं = परम-पारिणामिक-स्वभाव, जो = जो, संवेयण-गाही = अनुभव से – प्राप्त करनेवाला, सो-हं = वह – मैं, णादा = ज्ञाता, हवे = होता है, आदा = आत्मा।

(९) णादूण समयसारं, तेणेव य तंपि ज्झाइदुं चेव।
समरसिभूदा तेण य, सिद्धा सिद्धालयं जंति॥

आत्म-स्वभाव को जानकर उसके द्वारा ही उसको ध्यान के लिए ही ग्रहण किया गया है। उससे (आत्म-स्वभाव से) ही एकमेक हुए सिद्ध सिद्धालय को जाते हैं।

णादूण = जानकर, समयसारं = आत्मस्वभाव को, तेणेव = उसके द्वारा ही, तंपि = उसको ही, ज्झाइदुं = ध्यान के लिए, चेव = ही, समरसि-भूदा = एकमेक-हुए, तेण = उससे, य = ही, सिद्धा = सिद्ध, सिद्धालयं = सिद्धालय को, जंति = जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१०) **एक्को सहावसिद्धो, सोहं अप्पा वियप्पपरिमुक्को ।**
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो ऍक्को परमप्पा ॥

जो आत्मा अनुपम है, स्वभाव से सिद्ध है, विकल्प से रहित है – वह मैं हूँ। मेरे लिए दूसरा कोई शरण नहीं है, वह अनुपम परम आत्मा ही मेरे लिए शरण है।

एक्को = अनुपम, **सहाव -सिद्धो** = स्वभाव से – सिद्ध, **सो-हं** = वह – मैं, **अप्पा** = आत्मा, **वियप्प-परिमुक्को** = विकल्प से – रहित, **अण्णो** = अन्य, **ण** = नहीं, **मज्झ** = मेरे लिए, **सरणं** = शरण, **सरणं** = शरण, **सो** = वह, **ऍक्को** = अनुपम, **परमप्पा** = परम आत्मा।

(११) **किह सो घेप्पदि अप्पा, पण्णाए सो दु घेप्पदे अप्पा ।**
जह पण्णाऍ विहत्तो, तह पण्णाए व घेत्तव्वो ॥

वह शुद्ध आत्मा किस प्रकार ग्रहण किया जाता है? वह शुद्ध आत्मा तो प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण किया जाता है। जैसे वह शुद्ध आत्मा बंध आदि से प्रज्ञा के द्वारा विभक्त किया गया है, उसी प्रकार वह प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण किया जाना चाहिये।

किह = किस प्रकार, **सो** = वह, **घेप्पदि** = ग्रहण किया जाता है, **अप्पा** = आत्मा, **पण्णाए** = प्रज्ञा के द्वारा, **सो** = वह, **दु** = तो, **घेप्पदे** = ग्रहण किया जाता है, **अप्पा** = आत्मा, **जह** = जैसे, **पण्णाए** = प्रज्ञा के द्वारा, **विहत्तो** = विभक्त, **तह** = उसी प्रकार, **पण्णाए** = प्रज्ञा के द्वारा, **व** = ही, **घेत्तव्वो** = ग्रहण किया जाना चाहिए।

(१२) **पण्णाए घेत्तव्वो, जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।**
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥

प्रज्ञा के द्वारा आत्मा ग्रहण किया जाना चाहिये। जो चिदात्मा है वह तो निश्चय से मैं हूँ; शेष जो भाव हैं वे मेरे लिए पर हैं। इस प्रकार उन्हें जानना चाहिये।

पण्णाए = प्रज्ञा के द्वारा, **घेत्तव्वो** = ग्रहण किया जाना चाहिए, **जो** = जो, **चेदा** = चिदात्मा, **सो** = वह, **अहं** = मैं, **तु** = तो, **णिच्छयदो** = निश्चय से, **अवसेसा** = शेष, **जे** = जो, **भावा** = भाव, **ते** = वे, **मज्झ** = मेरे लिए, **परे** = पर, **त्ति** = इस प्रकार, **णादव्वा** = जानना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१३) पण्णाए घेत्तव्वो, जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥

प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण किया जाना चाहिये। जो देखनेवाला (दृष्टा) है निश्चय से वह तो मैं हूँ। शेष जो भाव हैं वे मेरे लिए पर हैं। इसप्रकार उन्हें जानना चाहिये।

पण्णाए = प्रज्ञा के द्वारा, **घेत्तव्वो** = ग्रहण किया जाना चाहिए, **जो** = जो, **दट्ठा** = दृष्टा **सो** = वह, **अहं** = मैं, **तु** = तो, **णिच्छयदो** = निश्चय से, **अवसेसा** = शेष, **जे** = जो, **भावा** = भाव, **ते** = वे, **मज्झ** = मेरे लिए, **परे** = पर, **त्ति** = इस प्रकार, **णादव्वा** = जानना चाहिए।

(१४) पण्णाए घेत्तव्वो, जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥

प्रज्ञा के द्वारा आत्मा ग्रहण किया जाना चाहिये। जो जाननेवाला (ज्ञाता) है निश्चय से वह तो मैं हूँ। शेष जो भाव हैं वे मेरे लिए पर हैं। इस प्रकार उन्हें जानना चाहिये।

पण्णाए = प्रज्ञा के द्वारा, **घेत्तव्वो** = ग्रहण किया जाना चाहिए, **जो** = जो, **णादा** = जाननेवाला, **सो** = वह, **अहं** = मैं, **तु** = तो, **णिच्छयदो** = निश्चय से, **अवसेसा** = शेष, **जे** = जो, **भावा** = भाव, **ते** = वे, **मज्झ** = मेरे लिए, **परे** = पर, **त्ति** = इस प्रकार, **णादव्वा** = जानना चाहिए।

(१५) 'द्यानत' जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे।
'सोहं' ये दो अक्षर जपकै, भव-जल पार उतरना रे ॥

(१६) सो अण्णाणी मूढो, जो ण याणदे समयसारं।

वह अज्ञानी है, मूढ है, जो समयसार (आत्मस्वभाव) को नहीं जानता है।

सो = वह, **अण्णाणी** = अज्ञानी, **मूढो** = मूढ़, **जो** = जो, **ण** = नहीं, **याणदे** = जानता है, **समयसारं** = समयसार (आत्मस्वभाव) को

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार, ९६, प्र. – कुन्दकुन्द भारती, वर्ष १९८७
२. वही, ९७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. वही, ९८।
४. श्री माइल्लधवल, नयचक्र, ४०६।
५. वही, ४०७।
६. वही, ४०८।
७. वही, ४०९।
८. वही, ४१०।
९. वही, ४१६।
१०. कल्याणालोचना, ३५।
११. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, २१६, श्री कुन्दकुन्द भारती, वर्ष १९९४, द्वितीय आवृत्ति।
१२. वही, २९७।
१३. वही, २९८।
१४. वही, २९९।
१५. जैनभजन सौरभ, 3, जैनविद्या संस्थान, १९९६।
१६. भावसंग्रह।

'स' सुखदायक है

'सहौ सुखदायकौ।'

– अलंकार चिन्तामणि, १.४९

– 'स' और 'ह' वर्ण सुखदायक हैं।
'स' और 'ह' वर्ण का प्रयोग होने से
'सोहं' का जाप सुखोत्पादक है।
इसी प्रकार 'स' और 'ह' का प्रयोग
होने से 'स्वाहा' भी सुखदायक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णिग्गंठ-पवयणं

(१) वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुर-वंदिदा धुदकिलेसा ।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥

– जिन्होंने सब कर्म नष्ट कर दिये हैं तथा विभिन्न देवताओं ने जिनकी स्तुति की है, ऐसे बीस तीर्थंकर तो सम्मेद पर्वत के शिखर से मोक्ष गए हैं, उनको प्रणाम।

वीसं = बीस, **तु** = तो, **जिणवरिंदा** = तीर्थंकर, **अमरासुर-वंदिदा** = देवताओं द्वारा स्तुति किए गए (विभिन्न देवताओं ने जिनकी स्तुति की है), **धुद-किलेसा** = नष्ट कर दिए गए कर्म (दुःख) (जिन्होंने सब कर्म नष्ट कर दिये हैं), **सम्मेदे-गिरि-सिहरे** = सम्मेद-पर्वत के शिखर से, **णिव्वाण-गया** = मोक्ष-गए हैं, **णमो** = प्रणाम, **तेसिं** = उनको।

(२) विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमदि जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥

– जो मनुष्य अध्यात्म-ज्ञानरूपी रथ पर बैठा हुआ संकल्परूपी नायक के द्वारा विभिन्न मार्गों पर भ्रमण करता है वह अरिहंत द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की महिमा करनेवाला सम्यग्दृष्टि समझा जाना चाहिए।

विज्जारहमारूढो = **विज्जा-रहं-आरूढो** = आध्यात्म ज्ञानरूपी-रथ पर-बैठा हुआ, **मणो-रह-पहेसु** = संकल्प रूपी-नायक के द्वारा-सभी मार्गों पर, **भमदि** = भ्रमण करता है, **जो** = जो, **चेदा** = मनुष्य, **सो** = वह, **जिण-णाण-पहावी** = अरिहंत द्वारा प्रतिपादित-ज्ञान की-महिमा करनेवाला, **सम्मादिट्ठी** = सम्यग्दृष्टि, **मुणेदव्वो** = समझा जाना चाहिए।

(३) सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥

– जैसे डोरे-रहित सूई खो जाती है किन्तु डोरे से युक्त सूई कभी नहीं खोती है, वैसे ही भव्य के लिए यह कहा गया है कि वह आगम को समझता हुआ संसार का नाश निश्चय ही करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुत्तम्मि = आगम को, **जाणमाणो** = समझता हुआ, **भवस्स** = भव्य के लिए, **भव-णासणं** = संसार का नाश, **च** = निश्चय ही, **कुणदि** = करता है, **सूई** = सूई, **जहा** = जैसे, **असुत्ता** = डोरेरहित, **णासदि** = खो जाती है, **सुत्ते** = डोरे से, **सहा** = युक्त, **णो वि** = कभी नहीं।

(४) धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

– जो अहिंसा, संयम और तपरूप है वह धर्म है। ऐसे धर्म से ही सर्वोच्च कल्याण होता है। जिस मनुष्य का मन सदा ऐसे धर्म में लगा हुआ है उसको देवता भी प्रणाम करते हैं।

धम्मो = धर्म, **मंगलमुक्किट्ठं** = मंगलं-उक्किट्ठं = कल्याण-सर्वोच्च, **अहिंसा** = अहिंसा, **संजमो** = संयम, **तवो** = तप, **देवा** = देव, **वि** = भी, **तं** = उसको, **पणमंति** = प्रणाम करते हैं, **जस्स** = जिसके, **धम्मे** = धर्म में, **सया** = सदा, **मणो** = मन।

(५) धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं॥

– धर्म वह है जो दयासहित है; संन्यास वह है जो समस्त आसक्ति से रहित है; देव वह है जिसने मूर्च्छा नष्ट की है और जो भव्य जीवों का उत्थान करनेवाला है।

धम्मो = धर्म, **दया-विसुद्धो** = दया-सहित, **पव्वज्जा** = संन्यास, **सव्व-संग-परिचत्ता** = समस्त-आसक्ति से-रहित, **देवो** = देव, **ववगय-मोहो** = नष्ट किया गया है-मूर्च्छा (जिसने मूर्च्छा नष्ट की), **उदययरो** = उत्थान करनेवाला, **भव्व-जीवाणं** = भव्य-जीवों का।

(६) जं सक्कदि तं कीरदि जं च ण सक्केदि तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणिदं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं॥

– जो कुछ शुभ किया जा सकता है वह किया ही जाता है। जो कुछ नहीं किया जा सकता है उसकी श्रद्धा करो। केवलियों द्वारा श्रद्धा करते हुए व्यक्ति के सम्यक्त्व कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जं = जो कुछ, **सक्कदि** = शुभ किया जा सकता है, **तं** = वह, **कीरदी** = किया ही जाता है, **जं** = जो कुछ, **ण** = नहीं, **सक्केदि** = किया जा सकता है, **तं** = उसकी, **च** = पादपूरक, **सद्दह** = श्रद्धा करो, **णं** = वाक्यालंकार, **केवलिजिणेहि** = केवलियों द्वारा, **भणिदं** = कहा गया है, **सद्दहमाणस्स** = श्रद्धा करते हुए (व्यक्ति) के, **सम्मत्तं** = सम्यक्त्व।

(७) धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

– वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमादि परिणाम भी दस प्रकार का धर्म है। तीन रत्नों का समूह भी धर्म है तथा जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

धम्मो = धर्म, **वत्थु-सहावो** = वस्तु का स्वभाव, **खमादि-भावो** = क्षमादि परिणाम, **य** = भी, **दस-विहो** = दस प्रकार का, **धम्मो** = धर्म, **रयणत्तयं** = तीन रत्नों का समूह, **च** = भी, **धम्मो** = धर्म, **जीवाणं** = जीवों की, **रक्खणं** = रक्षा करना, **धम्मो** = धर्म।

(८) चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

– निःसंदेह चारित्र धर्म होता है। जो समता है, वह निश्चय ही धर्म कहा गया है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का भाव ही समता कहा गया है।

चारित्तं = चारित्र, **खलु** = निःसंदेह, **धम्मो** = धर्म, **धम्मो** = धर्म, **जो** = जो, **सो** = वह, **समो** = समता, **त्ति** = निश्चय ही, **णिद्दिट्ठो** = कहा गया है, **मोह-क्खोह-विहीणो** = मोह-क्षोभ से-रहित, **परिणामो** = भाव, **अप्पणो** = आत्मा का, **हु** = ही, **समो** = समता।

(९) तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥

– भूखे, प्यासे अथवा किसी दुःखी प्राणी को देखकर जो भी कोई दुःखी मनवाला होकर उसके प्रति दयालुता से व्यवहार करता है उसके मन में यह अनुकम्पा होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिसिदं = प्यासे को, **बुभुक्खिदं** = भूखे को, **वा** = अथवा, **दुहिदं** = दुःखी प्राणी को, **दट्ठूण** = देखकर, **जो** = जो, **दु** = भी, **दुहिदमणो** = दुःखी-मनवाला होकर, **पडिवज्जदि** = व्यवहार करता है, **तं** = उसके प्रति, **किवया** = दयालुता से, **तस्सेसा** = तस्स-एसा = उसके (मन में) – यह, **होदि** = होती है, **अणुकंपा** = अनुकंपा।

(१०) जो इच्छदि णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायदि अप्पयं सुद्धं ॥

– जो भीषण संसाररूपी महासागर से बाहर निकलने की चाह रखता है, वह कर्मरूपी ईंधन को जलानेवाली शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

जो = जो, **इच्छदि** = चाह रखना, **णिस्सरिदुं** = बाहर निकलने की, **संसार महण्णवाउ** = संसार (रूपी) – महासागर से, **रुद्दाओ** = भीषण, **कम्मिंधणाण** = कम्म इंधणाण = कर्मरूपी-ईंधन को, **डहणं** = जलानेवाली, **सो** = वह, **झायदि** = ध्यान करता है, **अप्पयं** = आत्मा का, **सुद्धं** = शुद्ध।

(११) अरिहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथिदं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं समणा साहंति परमत्थं ॥

– अरिहंत द्वारा प्रतिपादित अर्थ गणधरदेवों द्वारा विभिन्न सूत्रों में भली प्रकार से गूँथा गया है; श्रमण (उन) सूत्रों के अर्थ-अन्वेषण के प्रयोजन को और परमार्थ को साधते हैं।

अरिहंत-भासियत्थं = अरिहंत द्वारा-प्रतिपादित, अर्थ, **गणहर-देवेहिं** = गणधर-देवों द्वारा, **गंथिदं** = गूँथा गया है, **सम्मं** = भली प्रकार से, **सुत्तत्थमग्गणत्थं** = सुत्त-अत्थ-मग्गण-अत्थं = सूत्रों के अर्थ, अन्वेषण के-प्रयोजन को, **समणा** = श्रमण, **साहंति** = साधते हैं, **परमत्थं** = परमार्थ को।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र-सामान्य-तपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः ॥

– भगवान् जिनेन्द्र (तीर्थंकर) भावपूर्वक पूजा-भक्ति करनेवालों के लिए, मुनियों, सामान्यजनों व तपस्वियों के लिए, रक्षा करनेवालों के लिए, नगर, प्रान्त, राष्ट्र और शासन के लिए शान्ति प्रदान करें।

संपूजकानां = भावपूर्वक पूजा-भक्ति करनेवालों के लिए, **प्रतिपालकानां** = रक्षा करनेवालों के लिए, **यतीन्द्र-सामान्य-तपोधनानाम्** = मुनियों-सामान्यजनों-तपस्वियों के लिए, **देशस्य** = प्रान्त के लिए, **राष्ट्रस्य** = राष्ट्र के लिए, **पुरस्य** = नगर के लिए, **राज्ञः** = शासक के लिए, **शान्तिं** = शान्ति, **करोतु** = प्रदान करें, **भगवान्** = भगवान् जिनेन्द्र = तीर्थंकर।

---

१. निर्वाणकाण्ड, २।
२. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, २३६।
३. आचार्य कुन्दकुन्द, सूत्रपाहुड, २५।
४. दिगम्बर प्रतिक्रमण सूत्र।
५. आचार्य कुन्दकुन्द, बोधपाहुड, २५।
६. आचार्य कुन्दकुन्द, दर्शनपाहुड, २२।
७. स्वामी कार्तिकेय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८।
८. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, ७।
९. आचार्य कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, १३७।
१०. आचार्य कुन्दकुन्द, मोक्षपाहुड, २६।
११. आचार्य कुन्दकुन्द, सूत्रपाहुड, १।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश भाषा

चयनित अंश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तुति

(अपभ्रंश भाषा)

जय तुहुँ गइ तुहुँ मइ तुहुँ सरणु ।
तुहुँ माय वप्पु तुहुँ वन्धु-जणु ॥
तुहुँ परम-पक्खु परमत्ति-हरु ।
तुहुँ सव्वहुँ परहुँ पराहिपरु ॥

तुहुँ दंसणें णाणें चरित्ते थिउ ।
तुहुँ सयल-सुरासुरेहिँ णमिउ ॥
सिद्धन्तें मन्तें तुहुँ वायरणें ।
सज्झाएँ झाणें तुहुँ तवचरणें ॥

अरहन्तु वुद्धु तुहुँ हरि हरु वि तुहुँ अण्णाण-तमोह-रिउ ।
तुहुँ सुहुमु णिरञ्जणु परमपउ तुहुँ रवि वम्भु सयम्भु सिउ ॥

– महाकवि स्वयम्भू

जय हो, तुम (मेरी) गति हो, तुम (मेरी) बुद्धि हो, तुम (मेरे) रक्षक हो, तुम (मेरे) माँ-बाप हो, तुम बंधुजन हो। तुम परमपक्ष (तर्क के परम आधार) हो, तुम दुर्मति को दूर करनेवाले हो। तुम सब अन्यों से (भिन्न हो), तुम परम आत्मा हो।

तुम दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित हो। सकल सुर-असुर तुम्हें नमन करते हैं। सिद्धान्त, मन्त्र, व्याकरण, स्वाध्याय, ध्यान और तपश्चरण में तुम हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अरिहन्त, बुद्ध तुम हो, विष्णु और महादेव तुम हो, अज्ञानरूपी अंधकार के शत्रु तुम हो। तुम सूक्ष्म, निरंजन और मोक्ष हो, तुम सूर्य, ब्रह्मा, स्वयंभू और शिव हो।

जय = जय हो, **तुहुँ** = तुम, **गइ** = गति, **मइ** = मति, **सरणु** = रक्षक, **माय** = माँ, **वप्पु** = बाप, **वन्धु-जणु** = बंधु-जन, **परम-पक्खु** = परम-पक्ष (तर्क के परम आधार), **परमत्ति** = दुर्मति, **हरु** = दूर करनेवाले, **सव्वहुँ** = सब, **परहुँ** = अन्यों से, **पराहिपरु** = परम आत्मा, **दंसणे** = दर्शन में, **णाणे** = ज्ञान में, **चरित्ते** = चारित्र में, **थिउ** = स्थित, **सयल-सुरासुरेहिं** = सयल-सुर-असुरेहिं-सकल-सुर-असुर द्वारा, **णमिउ** = नमन किए जाते हो, (सकल सुर-असुर तुम्हें नमन करते हैं), **सिद्धन्ते** = सिद्धान्त में, **मन्ते** = मंत्र में, **वायरणे** = व्याकरण में, **सज्झाएँ** = स्वाध्याय में, **झाणे** = ध्यान में, **तव-चरणे** = तपश्चरण में।

अरहन्तु = अरिहन्त, **वुद्धु** = बुद्ध, **तुहुँ** = तुम, **हरि** = विष्णु, **हरु** = महादेव, **वि** = और, **अण्णाण-तमोह-रिउ** = अज्ञानरूपी अंधकार के शत्रु, **सुहुमु** = सूक्ष्म, **णिरञ्जणु** = निरंजन, **परमपउ** = मोक्ष, **रवि** = सूर्य, **वम्भु** = ब्रह्मा, **सयम्भू** = स्वयंभू, **सिउ** = शिव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमात्मप्रकाश

□ श्री योगीन्दुदेव

देहादेउलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु ।
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥ ३३॥

जो अनादि है, अनन्त है, जो देहरूपी मन्दिर में बसता है, (जिसके) केवलज्ञान से चमकता हुआ शरीर है, वह दिव्य आत्मा ही परम आत्मा है। यह बात सन्देहरहित है।

देहा-देउलि = देहरूपी-मन्दिर में, **जो** = जो, **वसइ** = बसता है, **देउ** = दिव्य आत्मा, **अणाइ-अणंतु** = अनादि-अनन्त, **केवल-णाण-फुरंत-तणु** = केवल-ज्ञान से-चमकता हुआ-शरीर, **सो** = वह, **परमप्पु** = परम-अप्पु = परम-आत्मा, **णिभंतु** = यह बात सन्देह रहित।

देहें वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जो जि ।
देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३४॥

जो देह में रहता हुआ भी अनिवार्यतः देह को भी बिल्कुल ही नहीं छूता है तथा जो देह के द्वारा भी नहीं छुआ जाता है, वह ही परम आत्मा है। ऐसा तुम जानो।

देहें = देह में, **वसंतु** = रहता हुआ, **वि** = भी, **णवि** = नहीं, **छिवइ** = छूता है, **णियमें** = अनिवार्यतः, **देहु** = देह को, **वि** = भी, **जो** = जो, **जि** = बिल्कुल ही, **देहें** = देह द्वारा, **छिप्पइ** = छुआ जाता है, **जो** = जो, **वि** = तथा **णवि** = नहीं, **मुणि** = जानो, **परमप्पउ** = परम-अप्पउ = परम-आत्मा, **सो** = वह, **जि** = ही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो सम-भाव-परिट्ठियहँ जोइहँ कोइ फुरेइ ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥ ३५॥

समता-भाव में ठहरे हुए योगियों के हृदय में परमानन्द को उत्पन्न करता हुआ जो कुछ प्रकट होता है, वह (ही) वास्तविक रूप से परम आत्मा है।

जो = जो, **सम-भाव-परिट्ठियहँ** = समता-भाव में ठहरे हुए, **जोइहँ** = योगियों के हृदय में, **कोइ** = जो कुछ, **फुरेइ** = प्रकट होता है, **परमाणंदु** = परमानन्द को, **जणंतु** = उत्पन्न करता हुआ, **फुडु** = वास्तविक रूप से, **सो** = वह, **परमप्पु** = परम-अप्पु = परम-आत्मा, **हवेइ** = है।

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ ॥ ६५॥

यद्यपि जीवों का कर्म बहुत प्रकार का सुख और दुख उत्पन्न करता है, किन्तु आत्मा तो केवल देखता है और जानता है। इस प्रकार निश्चय दृष्टि कहती है।

दुक्खु = दुःख, **वि** = यद्यपि, **सुक्खु** = सुख, **वि** = और, **बहु-विहउ** = बहुत-प्रकार का, **जीवहँ** = जीवों का, **कम्मु** = कर्म, **जणेइ** = उत्पन्न करता है, **अप्पा** = आत्मा, **देक्खइ** = देखता है, **मुणइ** = जानता है, **पर** = किन्तु, **णिच्छउ** = निश्चय दृष्टि, **एउँ** = इस प्रकार, **भणेइ** = कहती है।

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोइ ॥ ६७॥

आत्मा आत्मा ही होता है। पर पर ही होता है; आत्मा पर कभी नहीं होता है; पर भी किसी समय भी आत्मा नहीं होता है। योगियों ने अनिवार्यतः इस प्रकार कहा है।

अप्पा = आत्मा, **अप्पु** = आत्मा, **जि** = ही, **परु** = पर, **जि** = ही, **अप्पा** = आत्मा, **परु** = पर, **जि ण** = कभी नहीं, **होइ** = होता है, **परु** = पर, **जि** = भी, **कयाइ** = किसी समय, **वि** = भी, **अप्पु** = आत्मा, **णवि** = नहीं, **णियमें** = अनिवार्यतः, **पभणहिं** = कहा है, **जोइ** = योगियों ने।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुच्चेइ ॥ ७६॥

आत्मा से आत्मा को जानता हुआ व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति शीघ्र कर्मों से छुटकारा पा जाता है।

अप्पिं = आत्मा से, **अप्पु** = आत्मा को, **मुणंतु** = जानता हुआ, **जिउ** = व्यक्ति, **सम्मादिट्ठि** = सम्यग्दृष्टि, **हवेइ** = होता है, **सम्माइट्ठिउ** = सम्यग्दृष्टि, **जीवडउ** = व्यक्ति, **लहु** = शीघ्र, **कम्मइँ** = कर्मों से, **मुच्चेइ** = छुटकारा पा जाता है।

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएं अण्णेण।
जो झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण ॥ ९७॥

निर्मल आत्मा का ध्यान करो। दूसरी बहुत बात से क्या लाभ है? (सच यह है कि) जो परम पद है वह ध्यान करते हुए व्यक्तियों के द्वारा एक क्षण में (ही) प्राप्त कर लिया जाता है।

अप्पा = आत्मा का, **झायहि** = ध्यान करो, **णिम्मलउ** = निर्मल, **किं** = क्या लाभ है **बहुएं** = बहुत बात से, **अण्णेण** = दूसरी, **जो** = जो, **झायंतहँ** = ध्यान करते हुए व्यक्तियों के द्वारा, **परम-पउ** = परम-पद, **लब्भइ** = प्राप्त कर लिया जाता है, **एक्क-खणेण** = एक क्षण में।

जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ।
अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरी डहइ असेसु वि पाउ ॥ ११४॥

यदि कोई मनुष्य आधे पलक समय के लिए भी परम आत्मा से प्रेम करता है, (तो) जिस प्रकार अग्नि का कण लकड़ी के ढेर को जला देता है, (उसी प्रकार) (परम आत्मा से प्रेम) सम्पूर्ण पाप को ही (नष्ट कर देता है)।

जइ = यदि, **णिविसद्धु** = णिविस-अद्धु-पलक समय के लिए-आधे, **वि** = भी, **कु वि** = कोई मनुष्य, **करइ** = करता है, **परमप्पइ** = परमात्मा से, **अणुराउ** = प्रेम, **अग्गि-कणी** = अग्नि का कण, **जिम**, = जिस प्रकार, **कट्ठ-गिरी** = लकड़ी के ढेर को, **डहइ** = जला देता है, **असेसु** = सम्पूर्ण, **वि** = ही, **पाउ** = पाप को।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिँ चरणु हवेइ ॥ १५७॥

स्व और पर को जानकर और समझकर जो पर भाव को छोड़ता है, उसका वह स्वकीय भाव शुद्ध हो जाता है। ज्ञानी का ऐसा ही आचरण होता है।

जाणवि = जानकर, **मण्णवि** = समझकर, **अप्पु** = स्व, **परु** = पर को, **जो** = जो, **पर-भाउ** = पर-भाव को, **चएइ** = छोड़ता है, **सो** = वह, **णिउ** = स्वकीय, **सुद्धउ** = शुद्ध, **भावडउ** = भाव, **णाणिहिँ** = ज्ञानी का, **चरणु** = आचरण, **हवेइ** = होता है।

णाण-विहीणहँ मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ ।
बहुएं सलिल - विरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ॥ २०४॥

हे जीव! किसी भी आत्म-ज्ञानरहित व्यक्ति के लिए मोक्ष-पद की स्थिति को तू मत मान। (ठीक ही है) बहुत विलोडन किए हुए पानी के द्वारा भी हाथ चिकना नहीं होता है।

णाण-विहीणहँ = आत्म-ज्ञान-रहित व्यक्ति के लिए, **मोक्खु-पउ** = मोक्ष-पद की स्थिति को, **जीव** = हे जीव, **म** = मत, **कासु** = किसी, **वि** = भी, **जोइ** = मान, **बहुएं** = बहुत, **सलिल-विरोलियइँ** = पानी के द्वारा भी-विलोडन किए हुए, **करु** = हाथ, **चोप्पडउ** = चिकना, **ण** = नहीं, **होइ** = होता है।

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु ।
मरगउ जें परियाणियउ तहुँ कच्चें कउ गण्णु ॥ २०९॥

ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर (ज्ञानियों) के चित्त का दूसरी वस्तु स्पर्श नहीं करती है। (ठीक ही है) जिसके द्वारा मरकतमणि पहिचान ली गई है, उसके लिए काँच से प्रयोजन क्यों होगा ?

अप्पा = आत्मा को, **मिल्लिवि** = छोड़कर, **णाणमउ** = ज्ञानमय, **चित्ति** = चित्त का, **ण** = नहीं, **लग्गइ** = स्पर्श करती है, **अण्णु** = दूसरी वस्तु, **मरगउ** = मरकतमणि, **जें** = जिसके द्वारा, **परियाणियउ** = पहिचान ली गई है, **तहुँ** = उसके लिए, **कच्चें** = काँच से, **कउ** = क्यों, **गण्णु** = प्रयोजन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु ।
सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु ॥ २१२॥

इस जगत में जब तक जो जीव मन में स्थित अणु मात्र भी आसक्ति को नहीं छोड़ता है, तब तक वह परमार्थ (परम प्रयोजन/आत्मा) को समझता हुआ भी कर्म से छुटकारा नहीं पाता है।

जो = जो, अणु-मेत्तु = अणु-मात्र, वि = भी, राउ = आसक्ति को, मणि = मन में स्थित, जाम = जब तक, ण = नहीं, मिल्लइ = छोड़ता है, एत्थु = इस जगत में, सो = वह, णवि = नहीं, मुच्चइ = कर्म से छुटकारा पाता है, ताम = तब तक, जिय = जीव, जाणंतु = समझता हुआ, वि = भी, परमत्थु = परमार्थ (परम प्रयोजन/आत्मा) को।

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु ।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥ ३१३॥

जो अनन्त ज्ञानमय परम आत्मा है, वह दिव्य आत्मा मैं हूँ। जो सर्वोत्तम दिव्य आत्मा मैं हूँ वह परम आत्मा है। (तू) सन्देह-रहित (हो) (और) ऐसा चिन्तन कर।

जो = जो, परमप्पा = परम-अप्पा = परम-आत्मा, णाणमउ = ज्ञानमय, सो = वह, हउँ = मैं, देउ = दिव्य आत्मा, अणंतु = अनन्त, जो = जो, हउँ = मैं, सो = वह, परमप्पु = परम-अप्पु = परम-आत्मा, परु = सर्वोत्तम, एहउ = ऐसा, भावि = चिन्तन कर, णिभंतु = संवेदन-रहित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णिग्गंठ पवयणु

(१) अप्पा तिविहु मुणेवि लहु, मूढउ मेल्लहि भाउ ।
मुणि सण्णाणें णाणमउ, जो परमप्प-सहाउ ॥

तीन प्रकार की आत्मा को जानकर तू मूर्च्छित आत्मावस्था को शीघ्र छोड़। जो ज्ञानमय परमात्म स्वभाव है उसको स्वबोध के द्वारा जान।

अप्पा = आत्मा को, **तिविहु** = तीन प्रकार की, **मुणेवि** = जानकर, **लहु** = शीघ्र, **मूढउ** = मूर्च्छित, **मेल्लहि** = छोड़, **भाउ** = आत्मावस्था, **मुणि** = जान, **सण्णाणें** = स्वबोध के द्वारा, **णाणमउ** = ज्ञानमय, **जो** = जो, **परमप्प-सहाउ** = परमात्म-स्वभाव।

(२) भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु, जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी, संसारिणि तुट्टेइ ॥

जो व्यक्ति संसार, शरीर और भोगों से उदासीन हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है उसकी घनी संसाररूपी बेल नष्ट हो जाती है।

भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु = संसार-शरीर-भोगों से-उदासीन हुआ-व्यक्ति, **जो** = जो, **अप्पा** = आत्मा का, **झाएइ** = ध्यान करता है, **तासु** = उसकी, **गुरुक्की** = घनी, **वेल्लडी** = बेल, **संसारिणि** = संसाररूपी, **तुट्टेइ** = नष्ट हो जाती है।

(३) मेल्लिवि सयल अवक्खडी, जिय णिच्चिंतउ होइ ।
चित्तु णिवेंसहि परमपए, देउ णिरंजणु जोइ ॥

हे जीव! सभी चिन्ताओं को छोड़कर पहले तू निश्चिंत हो जा। फिर चित्त को परम पद में जमा और निरंजन दिव्य आत्मा को देख।

मेल्लिवि = छोड़कर, **सयल** = सभी, **अवक्खडी** = चिन्ताओं को, **जिय** = हे जीव, **णिच्चिंतउ** = निश्चिन्त, **होइ** = होजा, **चित्तु** = चित्त को, **णिवेंसहि** = जमा, **परमपए** = परम पद में, **देउ** = दिव्य आत्मा को, **णिरंजणु** = निरंजन, **जोइ** = देख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) राएँ रंगिऍं हियवडए, देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलऍं बिंबु जिम, एहउ जाणि णिभंतु ॥

जैसे मैले दर्पण में प्रतिबिंब नहीं देखा जाता है, उसी प्रकार आसक्ति से रंगे हुए हृदय में स्वभाव से दिव्य आत्मा नहीं देखा जाता है। यह बात सन्देहरहित है। तू समझ ।

राएँ = आसक्ति से, **रंगिऍं** = रँगे हुए, **हियवडए** = हृदय में, **देउ** = आत्मा, **ण** = नहीं, **दीसइ** = देखा जाता है, **संतु** = (स्वभाव से) दिव्य, **दप्पणि** = दर्पण में, **मइलऍं** = मैले, **बिंबु** = प्रतिबिंब, **जिम** = जिस प्रकार, **एहउ** = यह बात, **जाणि** = समझ, **णिभंतु** = सन्देहरहित।

(५) भल्लाहँ वि णासंति गुण, जहँ संसग्ग खलेहिँ ।
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ, तें पिट्टियइ घणेहिँ ॥

जिनकी दुष्टों के साथ संगति होती है, उन भले लोगों के गुण भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिए ठीक ही कहा है कि लोहे के साथ मिली हुई अग्नि हथौड़ों से पीटी जाती है।

भल्लाहँ = भले लोगों के, **वि** = भी, **णासंति** = नष्ट हो जाते हैं, **गुण** = गुण, **जहँ** = जिनकी, **संसग्ग** = संगति, **खलेहिँ** = दुष्टों के साथ, **वइसाणरु** = अग्नि, **लोहहँ** = लोहे के साथ, **मिलिउ** = मिली हुई, **तें** = इसलिए (ठीक ही कहा), **पिट्टियइ** = पीटी जाती है, **घणेहिँ** = हथौड़ों से।

(६) विसयसुहा दुइ दिवहडा, पुणु दुक्खहँ परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ, अप्पाखंधि कुहाडि ॥

इन्द्रिय–विषयों के सुख दो दिन तक ही रहते हैं, फिर दुःखों का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। हे भोले जीव! तू इन्द्रिय–विषयों में रमकर अपने कंधे पर ही कुल्हाड़ी मत चला।

विसय–सुहा = इन्द्रिय–विषयों के सुख, **दुइ** = दो, **दिवहड़ा** = दिन तक, **पुणु** = फिर, **दुक्खहँ** = दुःखों का, **परिवाडि** = क्रम (प्रारंभ हो जाता है), **भुल्लउ** = हे भोले!, **जीव** = जीव, **म** = मत, **वाहि** = चला, **तुहुँ** = तू (इंद्रिय विषयों में रमकर), **अप्पाखंधि** = अपने कंधे पर, **कुहाडि** = कुल्हाड़ी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) पंचहँ णायकु वसिकरहु, जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ, अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥

पाँच इन्द्रियों के नायक मन को वश में करो, क्योंकि ऐसा करने पर दूसरी सब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। ठीक ही है मूल के समाप्त होने पर श्रेष्ठ वृक्षों के पत्ते भी अनिवार्यरूप से सूख जाते हैं।

पंचहँ = पाँच इन्द्रियों के, **णायकु** = नायक (मन) को, **वसि-करहु** = वश में करो, **जेण** = क्योंकि ऐसा करने पर, **होंति** = हो जाती हैं, **वसि** = वश में, **अण्ण** = दूसरी (सब), **मूल** = मूल के, **विणट्ठइ** = समाप्त होने पर, **तरुवरहँ** = श्रेष्ठ वृक्षों के, **अवसइँ** = अनिवार्य रूप से, **सुक्कहिँ** = सूख जाते हैं, **पण्ण** = पत्ते।

(८) धंधइँ पडियउ सयलु जगु, कम्मइँ करइ अयाणु ।
मोक्खहँ कारणु एक्कु खणु, ण वि चिंतइ अप्पाणु ॥

धंधे में पड़ा हुआ सकल जगत ज्ञानरहित होकर हिंसादि कर्मों को करता है, वह मोक्ष के आधार आत्मा को एक क्षण भी नहीं विचारता है।

धंधइँ = धंधे में, **पडियउ** = पड़ा हुआ, **सयलु** = सकल, **जगु** = जगत, **कम्मइँ** = (हिंसादि) कर्मों को, **करइ** = करता है, **अयाणु** = ज्ञानरहित (होकर), **मोक्खहँ** = मोक्ष के, **कारणु** = आधार, **एक्कु** = एक, **खणु** = क्षण, **ण** = नहीं, **वि** = भी, **चिंतइ** = विचारता है, **अप्पाणु** = आत्मा को।

(९) सज्झाएं णाणह पसरु, रुज्झइ इंदियगाउ ।
पच्चूसे सूरग्गमणि, घूयडकुलु णिच्छाउ ॥

स्वाध्याय से ज्ञान का प्रसार और इन्द्रिय-समूह का संयम होता है। ठीक ही है, प्रातःकाल के श्रेष्ठ सूर्य में उल्लू-समूह निस्तेज/निष्क्रिय हो जाता है।

सज्झाएं = स्वाध्याय से, **णाणह** = ज्ञान का, **पसरु** = प्रसार, **रुज्झइ** = संयम होता है, **इंदिय-गाउ** = इन्द्रिय-समूह, **पच्चूसे** = प्रातःकाल के, **सूरग्गमणि** = सूर-अग्गमणि सूर्य में-श्रेष्ठ, **घूयड-कुलु** = उल्लू-समूह, **णिच्छाउ** = निस्तेज/निष्क्रिय (हो जाता है)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१०) दाणच्चणविहि जें करहिं, ते जि सलक्खण हत्थ।
जे जिणतित्थहँ अणुसरहिं, पाय वि ते जि पसत्थ॥

जो हाथ दान करते हैं और भावपूर्वक पूजाविधि करते हैं वे ही सुलक्षण हाथ हैं। जो पाँव आत्मोत्थान के लिए जिनतीर्थों को गमन करते हैं वे ही पाँव प्रशंसनीय हैं।

दाणच्चणविहि = **दाण-अच्चण-विहि** = दान-(भावपूर्वक) पूजा-विधि, **जें** = जो, **करहिं** = करते हैं, **ते** = वे, **जि** = ही, **सलक्खण** = सुलक्षण, **हत्थ** = हाथ, **जे** = जो, **जिण-तित्थहँ** = जिन-तीर्थों को, **अणुसरहिं** = गमन करते हैं, **पाय** = पाँव, **वि** = ही, **ते** = वे, **जि** = ही, **पसत्थ** = प्रशंसनीय (हैं)।

(११) जें सुणंति धम्मक्खरइँ, ते हउँ मण्णमि कण्ण।
जे जोयहिँ जिणवरह मुहु, ते पर लोयण धण्ण॥

जो कान धार्मिक शब्दों को सुनते हैं, उन्हीं को मैं कान मानता हूँ। जो आँखें जिनवर का मुख देखती हैं वे ही आँखें परम धन्य हैं।

जें = जो, **सुणंति** = सुनते हैं, **धम्मक्खरइँ** = **धम्म-अक्खरइँ** = धार्मिक शब्दों को, **ते** = उन्हीं को, **हउँ** = मैं, **मण्णमि** = मानता हूँ, **कण्ण** = कान, **जे** = जो, **जोयहिँ** = देखती हैं, **जिणवरह** = जिनवर का, **मुहु** = मुह, **ते** = वे, **पर** = परम, **लोयण** = आँखें, **धण्ण** = धन्य।

(१२) चिंता बंध्यउ सयल जग, चिंता किणहि न बद्ध।
जे नर चिंता वस करइ, ते माणस नहीं सिद्ध॥

– सारा जग चिंता से बँधा हुआ है, चिंता किसी के द्वारा नहीं बँधी है। जो मनुष्य चिंता को वश में कर लेते हैं वे मनुष्य नहीं सिद्ध हैं।

चिंता = चिंता से, **बंध्यउ** = बँधा हुआ, **सयल** = सारा, **जग** = जग, **चिंता** = चिंता, **किणहि** = किसी से, **न** = नहीं, **बद्ध** = बँधी हुई, **जे** = जो, **नर** = मनुष्य, **चिंता** = चिंता को, **वस** = वश में, **करइ** = कर लेते हैं, **ते** = वे, **माणस** = मनुष्य, **नहीं** = नहीं, **सिद्ध** = सिद्ध।

---

१. श्रीमद् योगीन्दुदेव, परमात्मप्रकाश, १२, प्र. – श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, वीर नि. सं. २५०४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. वही, ३२।

३. वही, ११७।

४. वही, १२२।

५. वही, २४१।

६. मुनि रामसिंह, पाहुडदोहा, १७, प्र. – गोपाल अम्बादास चवरे, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा (बरार), वीर नि.सं. २०४९।

७. परमात्मप्रकाश, २७६।

८. पाहुडदोहा, ७।

९. देवसेन, सावयधम्म दोहा, १४०, प्र. – कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा (बरार), वीर नि. सं. २०४८।

१०. वही, ११७।

११. वही, ११८।

१२. ढोला मारू रा दूहा, २२०, सम्पादक – डॉ. गोरधनसिंह शेखावत, प्र. – दी स्टूडैण्ट्स बुक कम्पनी, ईस्वी सन् – १९९०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी भजन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[राग-मांढ]

अब हम अमर भये न मरेंगे ।
तन कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरेंगे ॥

उपजै मरै कालतैं प्रानी, तातैं काल हरैंगे ।
राग-दोष जग बंध करत हैं, इनको नाश करैंगे ॥ १ ॥

देह विनाशी मैं अविनाशी, भेदज्ञान पकरैंगे ।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे हों निखरैंगे ॥ २ ॥

मरे अनन्तबार बिन समझै, अब सब दुःख बिसरैंगे ।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरै सुमरैंगे ॥ ३ ॥

अब तो हम अमर हो गये हैं, मरेंगे नहीं। (हमने अब) शरीर धारण करने का जो (मूल) कारण है मिथ्यात्व (असत्य श्रद्धान) उसे छोड़ दिया है, तो फिर शरीर धारण क्यों करेंगे? मृत्यु के कारण प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, (हम) उसी मृत्यु को नष्ट कर देंगे। संसार के प्राणी राग-द्वेष का बन्ध करते हैं, (हम) तो इनका (राग-द्वेष का) भी नाश कर देंगे। शरीर तो विनाशी है किन्तु मैं अविनाशी हूँ, हम यह भेद-ज्ञान ग्रहण करेंगे। शरीर नश्वर है, वह तो नष्ट हो जायेगा, चला जायेगा, किन्तु हम स्थिर आत्मा में वास करनेवाले हैं, इसलिए निष्कलंक होकर निर्मल बनेंगे। बिना समझे हुए हम अनन्त बार मरे हैं किन्तु अब तो सब दुःखों को दूर करेंगे। द्यानतरायजी कहते हैं कि केवल दो अक्षर (सोहं) हमारे बिल्कुल निकट हैं, (उन्हें) हम बिना प्रयास के स्मरण करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[राग-आसावरी]

आतम अनुभव करना रे भाई ।
जब लौं भेद-ज्ञान नहिं उपजै, जनम-मरण दुःख भरना रे ॥

आतम पढ़ नव तत्व बखानै, व्रत तप संजम धरना रे ।
आतम-ज्ञान बिना नहिं कारज, जोनी संकट परना रे ॥१॥

सकल ग्रन्थ दीपक हैं भाई, मिथ्या-तमके हरना रे ।
कहा करै ते अंध पुरुष को, जिन्हैं उपजना मरना रे ॥२॥

'द्यानत' जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे ।
'सोहं' ये दो अक्षर जपकै, भव-जल पार उतरना रे ॥३॥

हे भाई! आत्मा का अनुभव कर। जब तक भेद-ज्ञान (शरीर और आत्मा को भिन्न समझना) उत्पन्न नहीं होता है तब तक जन्म-मरण के दुःख सहने पड़ेंगे। आत्मा को समझकर नौ तत्त्वों का वर्णन कर और व्रत, तप और संयम धारण कर। आत्म-ज्ञान के बिना (आत्मानुभवरूपी) कार्य (सिद्ध) नहीं होता है, और विभिन्न गतियों के दुख में गिरता-पड़ता है। हे भाई! सब ही आगम-ग्रन्थ (ज्ञान का उजाला करने के कारण) दीपक के समान हैं। (तू) (उनके माध्यम से) मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश कर। उस अंधे (अज्ञानी) व्यक्ति का क्या करें जिसको जन्म-मरण के चक्र में ही रहना है? द्यानतरायजी कहते हैं कि जो मनुष्य संसार में सुख चाहता है उसको इस (उपर्युक्त) शिक्षा का अनुगमन करना (चाहिये)। 'सोहं' इन दो अक्षरों का जप करके (तू) संसार-समुद्र के पार पहुँच।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[राग-आसावरी]

चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना ।
पग खूंटे दो हालन लागे, उर मदरा खखराना ।
छीदी हुई पांखड़ी पांसू, फिरै नहीं मनमाना ॥ १ ॥

रसना तकलीने बल खाया, सो अब कैसे खूटै ।
शबद सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी घड़ी पल पल टूटै ॥ २ ॥

आयु मालका नहीं भरोसा, अंग चला-चल सारे ।
रोज इलाज मरम्मत चाहै, बैद बाढई हारे ॥ ३ ॥

नया चरखला रंगा चंगा, सबका चित्त चुरावै ।
पलटा वरन गये गुन अगले, अब देखैं नहिं भावै ॥ ४ ॥

मोटा-महीं कातकर भाई! कर अपना सुरझेरा ।
अंत आगमें ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सवेरा ॥ ५ ॥

(शरीररूपी) चरखा (अब) काम करने के योग्य नहीं है, (क्योंकि) यह चरखा (अब) घिस गया है। दोनों पैररूपी खूँटे अब हिलने लगे हैं, छाती में (अब) कफ आवाज करने लगा है। पसलीरूपी पाँखड़ी चौड़ी हो गई हैं और इच्छानुसार चलती नहीं हैं। जिह्वारूपी तकली अब टेढ़ी हो गई है, इसलिए अब कैसे चले? शब्दरूपी सूत सीधा नहीं निकलता है और बार-बार टूटता है। आयुरूपी माल का भरोसा नहीं है और सारे अंग अस्त-व्यस्त हो गये हैं। प्रतिदिन इलाजरूपी मरम्मत चाहते हैं और वैद्यरूपी बढ़ई भी हार गए हैं। युवा शरीररूपी चरखा स्वस्थ होता है और सबके लिए आकर्षक होता है (अब) शरीर का रंग बदल गया है और पिछले गुण नष्ट हो गये हैं, अतः देखने में अच्छा नहीं लगता है। हे भाई! अब तो मोटा या महीन कातकर अपना समय बिता। अन्त में तो आग के लिए ईंधनस्वरूप होगा। भूधरदासजी कहते हैं कि तू शीघ्र ही समझ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी लेख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ्रष्टाचार मिटे, तो गरीबी हटे

– आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

भारतवर्ष को स्वतंत्रता मिले पचास वर्ष बीत गए। इतने समय में इसने विश्व के अन्य राष्ट्रों के समक्ष स्वयं को एक उन्नत राष्ट्र के रूप में उपस्थित कर अपनी उत्कर्ष भावना का परिचय प्रस्तुत किया है। अनेक देशों के पारस्परिक कलह को शान्त करने में, विश्व में मित्रतापूर्ण वातांवरण उपस्थित करने में, अणु-आयुधों की आँधी को नियंत्रित करने में और अपने विरोधियों को भी सद्भावना से अपने अनुकूल बनाने में भारत ने पिछले वर्षों में अपार परिश्रम किया.है। शान्ति, शील और सहअस्तित्व की नींव पर आधारित भारतीय पर-राष्ट्रनीति बनाई गई है। परिणामस्वरूप आज भारत संसार के देशों में विशिष्ट स्थान रखता है। युद्धोन्माद और नाना प्रकार के 'वादों' के इस युग में, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए विश्व के मंच पर अपने को विविध भूमिकाओं के सूत्रधार के रूप में उपस्थित कर सकना निःसन्देह उपयोगी रहा है। विश्व राष्ट्रों के आगन्तुक प्रतिनिधि भारत की प्रगति को आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं। किन्तु ....

जिसप्रकार किसी सुवर्ण के थाल में कोई लोहे की कील ठोक दे, जैसे कोई श्वेत कपूर में लहसुन की कली रख दे उसी प्रकार इन सब प्रगतियों के उपरान्त भी लगा हुआ यह 'किन्तु' भारत की किसी प्रधानं त्रुटि को, किसी हीनता को संकेतित करता है। मेरे विचार से राष्ट्र के जीवन में वह जो भयानक रोग पल रहा है, जिसकी ओर 'किन्तु' का संकेत है वह है 'भ्रष्टाचार'। अर्थात् पवित्र सदाचार का विलोम, नैतिकता के उत्थान-शिखरों का अवचरण और दुर्नीतियों की नैतिकता के प्रति अन्याय करने की खुली छूट। यह राष्ट्रद्रोह है। समाज को पतनोन्मुख करनेवाला है। मानव का मानव के प्रति विश्वासघात है। एक भ्रष्टाचारी यदि किसी को भी धोखा देता है तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है? वह स्वयं को भी तो नित्य ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धोखे में रखता है। भ्रष्टाचार छूत की बीमारी है। महारोग के समान फैलती है। अग्निज्वाला के समान है, जिसे लगती है उसका शील, संयम, आचारशुद्धि और नैतिक आदर्श सभी को भस्म कर देती है।

लोभ भ्रष्टाचार की जन्मभूमि है। वह निर्दयता की पाठशाला में पतन के पाठ पढ़कर वयस्क होता है। जैसे उल्लू को सूर्य के प्रकाश में भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार एक भ्रष्टाचारी को अपनी अधमता के सिवा कुछ भी नहीं सूझता। वह अपना विवेक, धर्म, मनुष्यत्व सभी कुछ 'भ्रष्ट' आचरण की भेंट चढ़ा देता है। वह अपने सम्पूर्ण सद्गुणों को भ्रष्टाचार के क़दमों में डाल देता है। मृदुता से दिये गये उपदेश उसका स्पर्श नहीं कर सकते। उसे तो लोहे के समान उग्रताप में तपाकर घनों की चोट से ताड़ित करके ही सुधारा जा सकता है। भ्रष्टाचारी को लोकभय, समाज–जाति–नीति–धर्म किसी का भय नहीं होता। केवल हृदय–परिवर्तन से ही वह शुद्धाचार की शपथ ले सकता है।

भ्रष्टाचार के मूल में जो सक्रिय तत्व हैं उनका यदि विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि एक भ्रष्टाचारी समाज, धर्म और संस्कृति के द्वारा स्थापित किये गये आदर्शों के प्रति नितान्त उदासीन होता है। वह अपनी वैयक्तिकता में तल्लीन रहकर सर्प के समान कुटिल गति से चलता है। जैसे पहाड़ पर बैठा हुआ गिद्ध मैदान की हरियाली को न देखकर केवल मृतक के मांस को ही खोजता है उसी प्रकार एक भ्रष्टाचारी अपने स्वार्थ के केन्द्र को ढूंढ़ ही निकालता है। परमार्थ की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। ये भ्रष्टाचारी राजनीति में आते हैं तो अधिकार प्राप्तकर शोषण करते हैं और धर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं तो धार्मिक विप्लव उपस्थित कर देते हैं। व्यक्तिगत सुखभोग के अभिलाषी ये भ्रष्टाचारी समाज के शरीर में 'जोंक' बनकर चिपके रहते हैं और उसका सारा रुधिर पीकर गुब्बारे की भाँति फूल जाते हैं।

आर्थिक विषमता का प्रथम अध्याय भ्रष्टाचार से ही आरंभ होता है। राष्ट्र में जो झोंपड़े और महल, ग़रीब और अमीर दिखाई देते हैं इनके मूल में भ्रष्टाचार की आधारशिला लगी है। जिसको भ्रष्टाचार की कला आ जाती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है वह कुछ समय में ही 'कौड़ीपति' से 'कोटिपति/करोड़पति' हो जाता है। इस प्रकार के कोटिपति होने में उसे अनेक प्रकार की हिंसा करनी पड़ती है। शील को निर्वासित करना पड़ता है, पवित्रता को फाँसी देनी होती है और आचार को नरक भेजना पड़ता है। इन सब दुष्कर्मों के साथ रहने से उसे पुष्कल द्रव्य की प्राप्ति होती है। इस तरह एक भ्रष्टाचारी वैभव के विशाल अंबार अर्जित करता है। सदाचार से अर्थोपार्जन का प्रतिपादन करते हुए 'आत्मानुशासन' में कहा है –

> **शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।**
> **न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥४५॥**

शुद्ध धन के द्वारा सज्जनों की भी सम्पत्तियाँ विशेष नहीं बढ़ती हैं। ठीक ही तो है नदियाँ/समुद्र आकाश से बरसनेवाले स्वच्छ जल से नहीं भरते हैं अपितु इधर-उधर से आकर मिलनेवाले गन्दे जल से ही उफान पर आते हैं। अतः यदि कोई न्यायोपार्जित धन से कुबेर होने की संभावना रखे तो यह असंभव है क्योंकि अचानक-अनायास-अपार धन के आगमन का मार्ग तो मायाचार-पापाचार ही है। 'लोभो मूलमनर्थानाम्' – लोभ अनर्थों का मूल है और लोभ ही भ्रष्टाचारी का परमप्रिय सखा है। भ्रष्टाचार राष्ट्र में अनर्थ उत्पन्न करनेवाला है।

सर्वोदयी तीर्थ की स्थापना करनेवाले भगवान महावीर ने आचार को प्रमुखता/महत्व इसीलिए दिया कि यदि राष्ट्र का आचरण विशुद्ध रहेगा तो वह सुखी, सम्पन्न, धार्मिक और प्रशस्त रहेगा। यद्यपि विचार में भी पवित्रता रहनी चाहिए तथापि आचरण में परिवर्तित पवित्रता अथवा अपवित्रता अपने तक सीमित नहीं रहकर दूसरों को भी छूती है। पवन के साथ उड़नेवाली अग्नि की एक सूक्ष्म चिनगारी भी गाँवभर को जलाकर भस्म कर देती है। सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने इस राष्ट्रव्यापी विष का शमन करने के लिए कुछ निष्कर्ष निकाले जिन्हें व्रतों के नाम से पुकारा गया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पाँच व्रत हैं। व्रतों का आरंभ अहिंसा से होता है और इनका चरम आदर्श अपरिग्रह में समाहित है। परिग्रह रखने से आरम्भी, संकल्पी आदि हिंसाएँ करनी पड़ती हैं, सत्य का लोप करना होता है, चौर्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी आवश्यक हो जाता है और परिग्रही के पास ब्रह्मचर्य फटकता भी नहीं। इस प्रकार एक परिग्रह हिंसा, मिथ्या, भ्रष्टाचार और चौर्य चारों दोषों से युक्त होकर समाज का शीलभंग करता है। और एक अपरिग्रह व्रत-पालन से अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। एक अपरिग्रही संसारभर के प्राणियों से मैत्रीभाव रखता है। वह नियमित आदान से विश्व-धन का सर्वग्राही नहीं होता अतएव सभी को उपार्जन के, लाभ के समान अवसर प्रदान करता है और अशेष संग्रहवृत्ति से होनेवाली द्रव्यहिंसा तथा स्वयं में सर्वस्वहरण की भावना से होनेवाली भावहिंसा से सर्वदा बचता है। 'अपरिग्रह-व्रती' होने से वह सत्यनिष्ठ होता है और राजदेय शुल्क (इन्कम टैक्स) का अपलाप नहीं करता प्रत्युत स्वयं अपनी आय के अनुपात से 'राजदेय' देकर समाज में नैतिकता की स्थापना भी करता है। अनुचित लाभांश न कमाने से वह 'अस्तेय' व्रत का पालन करता है तथा न्यायोपार्जित धन से सन्तोष रखते हुए धन का सदुपयोग कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, आचार-भ्रष्ट नहीं होता है। इस प्रकार एक अपरिग्रह-पालन करनेवाला पाँचों महाव्रतों का पालन करने की क्षमता रखता है।

वे लोग जो रात-दिन परिग्रहों के संवर्धन में लगे हुए हैं उस पेटू के समान हैं जिसके उदर में भोज्य पदार्थ रखने को स्थान नहीं है फिर भी वह भोजन की थाली छोड़ना नहीं चाहता। बहुत से घरों में बासी अन्न जमा होता रहता है और वे उसे रास्ते की नालियों में फेंकते रहते हैं जहाँ कुत्ते और भूखे इंसान उस बासी अन्न के लिए झगड़ते रहते हैं। ऐसे परिग्रही समाज में 'दानवीर' कहे जाते हैं। वे सामाजिक सम्मेलनों में अन्यायोपार्जित द्रव्य का कुछ अंश दान/अर्पित कर जयघोष सुनने के अभ्यस्त हो गये हैं। शास्त्रों में इस प्रकार के अन्यायोपार्जित वित्त की निन्दा करते हुए कहा गया है कि -

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥

जो व्यक्ति निर्धन होते हुए धनलिप्सा इसलिए करता है कि उससे दान करेगा और कल्याण-साधन करेगा मानो वह स्नान करने के लिए पंक-विलेपन करता है। यद्यपि स्नान करना अच्छा है किन्तु स्नान करने के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कीचड़ में सनना तो बुद्धिमत्ता नहीं! अनियमित, असीम परिग्रह की भावना भ्रष्टाचार को जन्म देती है और भ्रष्ट–आचरण मनुष्य को सबसे नीचे गिराकर ही दम लेते हैं। इस भ्रष्टाचार से लड़ना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। जो व्यक्ति पहरुआ होने का दम्भ करे और मुसाफिर को लुटने देने के लिए सो जाए उससे गली–मोहल्ले की सम्पत्ति की रक्षा कैसे सम्भव है? राष्ट्र के कर्णधारों को तब तक नींद नहीं आनी चाहिए जब तक भ्रष्टाचार को समूल–उन्मूलित करके अतल सिन्धु में न फेंक दिया जाए।

प्राचीन भारत में शासकों के लिए विख्यात था कि वे क्या करते हैं इसका पता वे क्या कर चुके हैं इससे लगता था। वे क्या करना चाहते थे, यह प्रजा उनके परिणामों से ही जान पाती थी। आज करने से पूर्व ढिंढोरा पीटना शुरू कर देते हैं और प्रचार-विभाग खोलकर किए जाने वाले कार्य की 'फाइलें' खोल दी जाती हैं। किन्तु कार्यकर्त्ताओं का इतिहास तो अपने कार्य में ही विश्वास करने का अभ्यस्त होता है। वे उस सिपाही के समान होते हैं जो शत्रु के मोर्चे को छिन्न–भिन्न कर, उसकी ध्वजा छीनकर या तो विजयी होता है या शत्रु की संगीन उसके सीने में उतर चुकी होती है। शहीद होकर या विजयी होकर ही वह अपने कार्य की सूचना देता है, इससे पूर्व डींग नहीं मारता। अग्नि की एक छोटी–सी चिनगारी जब जलती है, अपने समस्त ओज–बल के साथ जलती है। जब साहसिकों के अभियान प्रारंभ होते हैं तो वे संसार का इतिहास बदल डालते हैं। 'असम्भव' को सम्भव कर दिखानेवाले वीर प्राणों की बाजी लगाकर कार्यरत होते हैं। 'नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न क्लीवा न च मायिनः' जो लोग आलसी हैं और कार्य करने के लिए किसी अनुकूल परिस्थिति की तलाश में हैं उनको कभी कार्यारम्भ करने का अवसर नहीं मिलता। कार्यशूर तो प्रत्येक क्षण कार्य के लिए अवसर पाता रहता है। यदि अनुकूल अवसर न हो तो वह प्रतिकूलता को ही अनुकूलता में परिवर्तित करने का प्रबल साहस रखता है। 'कार्यं वा साधयेयम् देहं वा पातयेयम्' या तो मैं कार्यसिद्धि प्राप्त करूँगा या मृत्यु का आलिंगन करूँगा, बीच की कोई संदिग्ध स्थिति नहीं। भ्रष्टाचार के समूल उन्मूलन में राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अपना योगदान करना चाहिए। स्मरण रहे, बहुमत भ्रष्टाचार के विरुद्ध है; किन्तु आवश्यकता है आत्मबल की,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संगठन की और जाने-पहचाने भ्रष्टाचारियों के प्रति कठोर रुख अपनाने की। जब हमारे अपने शरीर का भी कोई अंग गलना-सड़ना आरम्भ कर देता है तो हम स्वयं उसे काट फेंकते हैं तब राष्ट्र की जड़ों को खोखला करने में लगा हुआ यह भ्रष्टाचार चाहे किसी के पोषण-संरक्षण में हो, क्या उसे समाप्त करने के लिए हमें निष्पक्ष भावना से अपनी सेवाएँ अर्पित नहीं करनी चाहिए ? हमें आगे आकर सदाचार का वातावरण निर्माण करने में अपनी सेवाएँ देनी चाहिये। गन्दा नाला जहाँ भी होगा बदबू देगा। भ्रष्टाचार जहाँ पलेगा वहाँ से अन्याय, अनीति, दुश्चारित्र और उन्मार्ग की दुर्गन्ध आती रहेगी।

तत्वार्थसूत्र में एक सूत्र है – 'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः' (६.१५) – बहुत परिग्रह नरक का बन्ध करता है। संसार के जितने विकार हैं वे परिग्रही के मन में पलते हैं। उन विकारों से राष्ट्र का शरीर रुग्ण हो जाता है। वातावरण विषाक्त हो जाता है। उस देश का हवा-पानी दूषित हो उठता है। स्वतंत्रता के साथ सौदेबाजी करनेवाले दुष्ट मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगती है। यह स्थिति राष्ट्र के लिए अत्यन्त शोचनीय/चिन्तनीय है। इस भ्रष्टाचार के बीजाणु हाट-बाजार में फैलते हैं और वस्तुओं में मिलावट शुरू हो जाती है। आफिसों में पहुँचते हैं तो जनता के कार्य लालफीतों में बन्द हो जाते हैं। अधिकारी के पास चले जाते हैं तो न्याय मँहगा और पक्षपाती हो जाता है। धनिकों के द्वार खटखटाने लगते हैं तो वस्तुओं के भाव आकाश छूने लगते हैं। भ्रष्टाचार राजा नल के मुकुट पर बैठा हुआ 'कलि' है जो आत्मा की सम्पूर्ण नैतिकता को दाँव पर लगा देता है। भ्रष्टाचार के वश में होकर युधिष्ठिर जूआ खेलते हैं और द्रौपदी को भी दाँव पर लगाते नहीं चूकते। भ्रष्टाचार का विषाक्त फल ऊपर से लुभावना है, मोह-उद्यान के सभी वृक्षों पर ऐसे ही फल लगे हुए हैं। भ्रष्टाचार से धन, मान, न्याय का उपार्जन करनेवाले राष्ट्र के सदाचारमार्गियों को भ्रमित करते हैं। स्पर्धा की आग उत्पन्न कर वे भोले और भले लोगों के लिए भी असामयिक चिता प्रज्वलित कर देते हैं। भ्रष्टाचारियों के प्रासाद पाप की ईंटों से चिने गये हैं, उन प्रासादों के रंग में ईमानदारों का लहू लगा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे देश की परम्परा आध्यात्मिक रही है। 'जीओ और जीने दो' के मंगल सूत्र हमारे सहस्रमुखों में बसे हुए हैं। इसीलिए शोक है, ग्लानि है कि जिस देश की धार्मिकता ने, संस्कृति ने शरीर को भी परिग्रह माना, 'साम्यं मे सर्वभूतेषु' कहकर विश्व के मानवों से अपना बंधुत्व स्थापित किया, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' – सबके सुख में अपना सुख तलाश किया और जहाँ सर्वोदय तीर्थ के नेता दिगम्बर होकर वीतराग धर्म का प्रचार करते रहे, जहाँ सम्राटों ने भी दीक्षा लेकर अपने को कृतार्थ समझा, जहाँ त्याग को सदैव भोग से उत्कृष्ट माना गया, उसी आर्यावर्त भरत क्षेत्र में लोग कषायों में, विषय-वासनाओं में बुरी तरह डूबे हुए हैं।

महात्मा गांधी को अभी बहुत समय नहीं हुआ, वे अपरिग्रहवाद के सच्चे हिमायती थे। गोलमेज कॉन्फ्रेंस में सम्मिलित होते समय उन पर वेशभूषा की पाबन्दी लगाई गई तो उन्होंने वहाँ जाना अस्वीकार कर दिया। जिन भारतीयों के अधनंगे-अधभूखे शरीरों के वे प्रतीक थे क्या सम्राट की सभा में जाते समय उसे वे भूल सकते थे ? चर्खा, खादी, स्वदेशी वस्तुओं से प्रेम, थर्ड क्लास में यात्रा – ये सब गाँधीजी के अपरिग्रह के सूचक थे। अपने 'सादा जीवन – उच्च विचार' से वह समस्त भारतीयों को आचरण की मूर्त शिक्षा देते थे। आज भी दिगम्बर मुनियों का नग्नत्व देश की जनता को यथासम्भव सात्विक वेष और आवश्यकताओं को 'कम से कम' करने की ओर इंगित करता है। ऐसे देश में भी यदि 'भ्रष्टाचार' पल रहा है और 'अपरिग्रह' के प्रति लोक उदासीन है तो कहना पड़ेगा कि लोग अन्तर्बाह्य रूप से दो हो गये हैं। वे 'जीओ और जीने दो' कहते हैं किन्तु वे इसका 'जीओ' पद ही उचित मानते हैं, 'जीने दो' की मंगलभावना का अन्त हो गया है। मन्दिर में सामायिक के समय 'साम्यं मे सर्वभूतेषु' शुकपाठ के समान बोल जाते हैं किन्तु मन्दिर की सीढ़ियों से उतर कर धर्म-पाठ को भूल जाते हैं।

स्वतंत्र देश में स्वतंत्र जीनेवालो! परिग्रह-मोह में मग्न होकर एकान्त आनन्द अनुभव करनेवालो! उठो, जागो, सर्वजनहितकारी मंगल-सूत्रों का पाठ करो। जीवन में सुख मिला है तो उसे बाँटकर चलो। मानव से देवत्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की ओर नहीं बढ़ सकते तो मानवीय धरातल से नीचे तो मत गिरो! क्या ब्रिटिशों के चले जाने से ही अपने को स्वतंत्र मान बैठे हो? तुम्हारे मनोराज्य में कितने कलुष पल रहे हैं? पर-पदार्थों ने कितना जकड़ रखा है तुम्हें? पतन के ये बन्धन, अनीतियों की यह शृंखला, मात्र आत्मपोषण के ये दुर्जेय अविचार-गढ़! क्यों इनके रहते हुए भी अपने को स्वतंत्र कहते हो? जूठन पर उठनेवाले हाथों की गणना करो, भूख से बिलबिलाते करोड़ों लोगों के पीठ से चिपके उदर की अपने तुन्दिल शरीर से तुलना करो। शराब और जूआ में रमनेवालो! कुछ धर्म, नीति, सदाचार और सात्विकता खरीदो। राष्ट्रव्यापी निर्धनता पर दया करो। गगनचुम्बी प्रासाद और फुटपाथों में समन्वय करने का अवसर मिला है। मत चूको। यह मैदानों की धूल आँधी बनकर अट्टालिकाओं पर छा जाए, इससे पूर्व ही तुम वसन्त के समीर बनकर इनमें फूल खिला दो। प्यासी धरती पर आकाश सदा से बरसता आया है, नहीं बरसने पर तो आँधी-तूफान आकाश को आच्छन्न करते नहीं चूकते। परस्पर समन्वय करते चलो। कुछ बूँद पानी से यदि धरती की तृषा/प्यास शान्त होती है तो उसके लिए सूर्य का तपना, सागर से याचना करना भी ठीक है। यह मानवता का सहज कर्त्तव्य है, कुछ देने का अभिमान नहीं। मानव मानव को एक मुट्ठी चावल देकर दाता का अभिमान करे यह तो अपने शील के प्रति व्यभिचार के समान है। कभी वह याचक हाथ तुम्हारा भी हो सकता है। ऐसा होना असम्भव तो नहीं? यह सोचकर पवित्रता से उपार्जन करो। उपार्जित का विभाग कर धर्म, दान, अतिथि-गुरु-देवार्चन आदि में व्यय करो। रसोई में सात्विक अन्न पकेगा तो बुद्धि, विवेक, आचरण, विचार सभी शुद्ध होंगे और पवित्रता की यह सुगन्ध नन्दनवन तक महक उठेगी। सदाचार से तुम्हारे विमान देवभूमियों की यात्रा करेंगे। नहीं तो, नरक के द्वार तुम स्वयं पहिचान ही लोगे।

भ्रष्टाचार से कोटि-कोटि जन सन्तप्त हैं। किसान जैसे बादलों की ओर देखता है, जनता पवित्र व्रत की शपथ लेनेवालों की तरफ आशा की टकटकी बाँधे देख रही है। यदि ये बादल बिना बरसे चले गये तो आशा पर तुषार-पात हो जाएगा। बड़े दिनों की प्रतीक्षा के पश्चात् जनता को इस मन-भावती घुमड़ के देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। अब तो आनन्द तब है कि यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
जितना गरजता है उतना ही बरसे। इतना बरसे कि तन-मन इसमें डूब कर सराबोर हो जाएँ। भ्रष्टाचार का बोलबाला पलायन करे औंर सदाचार के अंकुर जन-मन के खेतों में लहराने लगें। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अच्छे कार्य में विघ्नों की सम्भावना रहती है परन्तु साहसिक आरोही प्रतिकूल परिस्थितियों में ही अपने जय के खेमे गाड़ते हैं। 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति' बार-बार विघ्नों से तिरस्कृत भी उत्तम व्यक्ति स्वीकृत कार्य से विमुख नहीं हुआ करते, क्योंकि, 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' जो स्वीकार कर लिया उसका प्राण देकर भी पालन करना यह अच्छे कार्यशीलों का स्वभाव है। जिस प्रकार गजराज के दाँत मुख से बाहर निकलकर वापस नहीं होते उसी प्रकार श्रेष्ठ व्यक्तियों के वचन नहीं लौटते। सुग्रीव ने बालि-वध के प्रसंग में राम की सहायता पर, उनके वचन पर सन्देह किया तो राम ने कहा - 'रामो द्विर्नाभिभाषते' - राम दो बार नहीं बोलते। सत्यभाषी दृढ़मना/मनस्वी की धीरे से कही हुई बात मिथ्याभाषियों के उच्च स्वर में किये गये उद्‌घोषों (घोषणाओं) से कहीं अधिक मूल्यवान है। अधिकार की कुर्सी कर्तव्यपालन करनेवाले को पाकर कृतार्थ हो उठती है। सच्ची भावनाएँ कर्तव्यपालन से फलती-फूलती हैं। जो भावना को मन में ही रखता है अथवा वचन द्वारा व्यक्त करने मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है वह वास्तव में अपनी भावना की आप भी कद्र नहीं करता। भावनाओं को अस्तित्व देनेवाला तो उन्हें चारित्र के राज-मार्ग पर प्रवर्तित करके ही मुक्त होता है। एक शिल्पकार किसी पत्थर को मूर्ति में बदलने से पूर्व क्या अपनी साधना के प्रति ईमानदार कहा जा सकता है। भावना तो कच्चे कुम्भ के समान हैं, उन्हें कर्तव्य की अग्नि में पकाकर ही जीवनोपयोगी बनाया जा सकता है। एक लगनशील जब कर्तव्यपरायण होता है तो आनेवाले अवसर की बाट नहीं जोहता, वह अवसर को स्वयं उत्पन्न करता है और निष्ठा से कार्य आरम्भ कर देता है।

उत्तरदायी आसन पर विराजमान होकर लोक-कल्याण के लिए 'भ्रष्टाचार' शब्द को अतीत के गर्भ में विलीन कर देना चाहिए। ठंडी आँच में रोटी चीठी हो जाती है और मृदु न्याय से अपराधी ढीठ हो जाता है। लोकमानस में भ्रष्टाचार के प्रति तीव्र घृणा है अतः प्रशासक वर्ग को इसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्मूलन में कठिनाई नहीं होगी। सम्पन्नता की लम्बी आयु भोगनेवाले आज अपने अपराधों को भाग्य और ईश्वर के मत्थे मँढ़कर साफ छूट जाना चाहते हैं किन्तु कर्म करते समय जो कषाय और वासना उनके भीतर पलती रही है क्या उसके प्रति बरते गये ममत्व से वास्तव में वे इनकार कर सकेंगे? दूध-पानी को अलग-अलग करने की क्षमतावाले राजहंसों के सामने मिलावट कितनी देर टिकेगी? भ्रष्टाचार-उन्मूलन के लिए अपने विचार से एक पंचसूत्री योजना प्रस्तुत कर रहा हूँ जिससे गरीबी हट सके। आशा है, इससे मार्गदर्शन मिलेगा –

१. पाठ्यक्रम में सदाचार और नैतिकता की शिक्षा प्रचलित कर छात्र-छात्राओं को सात्विकता की ओर प्रवर्तित करना चाहिए। उन्हें परीक्षा के समय वार्षिक जाँचपत्र के आधार पर अतिरिक्त अंक मिलने चाहिए जो मूल अंकों में अवश्य सम्मिलित किये जाएँ।
२. नगरों में सदाचार-समितियों की स्थापना कर जनता की एतत्सम्बन्धी असुविधाओं को मुख्य केन्द्र तक पहुँचाने का प्रबन्ध होना चाहिए और स्थानीय प्रशासन को समिति की सिफारिश पर तुरन्त मामले की जाँच करनी चाहिए।
३. मँहगाई और बेकारी भी भ्रष्टाचार संवर्धन में निमित्तभूत है अतः सरकार को जीवन की नित्योपयोगी वस्तुओं की मँहगाई पर तत्परता से नियंत्रण करना चाहिए और कालाबाजार करनेवालों को दण्डित करने में मृदुता नहीं बरतनी चाहिए। लोगों को रोजगार देने के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करना चाहिए।
४. अश्लील सिनेमा और साहित्य पर प्रतिबन्ध होना चाहिए।
५. एक प्रमाणित भ्रष्टाचारी को समाज-सेवाओं में न लेकर उसे आचरणविशुद्धि तक सामाजिक मान-सम्मान से वंचित रखना चाहिए। साथ ही उत्तम चारित्र का पालन करनेवालों को सम्मान प्रदान करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्व-पर ज्ञान : समता की खान

– आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

अज्ञान अन्धकार है और ज्ञान प्रकाश। अज्ञान मृत्यु है और ज्ञान अमरता। अज्ञान विष है और ज्ञान अमृत। अज्ञान का आवरण रहते मनुष्य किसी बात को जान नहीं सकता। अन्धकार में चलनेवाला किसी कुआँ-बावड़ी, तालाब में गिर सकता है, पथ न सूझने से मार्गच्युत भी हो सकता है; परन्तु जिसने दीपक हाथ में लिया है वह सुखपूर्वक कील-काँटों से अपनी सुरक्षा करता हुआ ठिकाने पर पहुँच जाता है। इसीलिए प्राणियों को प्रकाश प्रिय होता है। पूर्व दिशा से प्रकाश-किरण के दर्शन करते ही पक्षी मधुर-ध्वनि करने लगते हैं; घोंसलों को छोड़कर गगन में उड़ चलते हैं; क्योंकि प्रकाश से उन्हें दृष्टि मिलती है। ऋषियों ने कहा है – 'हे प्रभो! ले चल हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर'; क्योंकि प्रकाश ही पदार्थों के साक्षात्कार में सहायक है। त्यागियों की चर्या प्रकाश की उपस्थिति में ही होती है। जब तक प्रकाश नहीं होता, उन्हें गमनागमन निषेध है। ईर्या समिति के पालन में प्रकाश सहायक है। ज्ञान के प्रकाश से ही मनुष्य घट-वस्त्रादि पदार्थों को जानता है। यह वस्त्र तन्तु-समूहरूप है, इसे ज्ञान द्वारा जानता है। जिसे ज्ञान नहीं है, वह घट तथा वस्त्र को देखकर भी उनके विषय में अपरिचित है। जिसे जिज्ञासावृत्ति मिली है, जिसमें शोध-चिन्तन की अभिलाषा जागृत है, वह ज्ञान की उपासना द्वारा ही वस्तुस्वरूप का निर्णय करता है। मानव-शरीर में सभी अंग महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु नेत्रों का स्थान सर्वोपरि है। यदि नेत्र नहीं हैं तो वह अपने प्रियजनों का मुख नहीं देख सकता, स्वाध्याय नहीं कर पाता और हाथ-पैर होते हुए भी पंगु हो जाता है। यही दयनीय स्थिति उसकी है जो ज्ञान-नेत्रहीन (अज्ञानी) है। अज्ञानी मनुष्य हितमार्ग को छोड़कर अहितमार्ग को अंगीकार करता है और अनेक दुःख उठाता है। सम्यग्ज्ञान पदार्थों के आन्तरिक एवं बाह्यस्वरूप को जानता है। भर्तृहरि ने ज्ञान से रहित को मनुष्य-शरीरधारी पशु कहा है। ज्ञान बिना जीवन की कला, जीवित रहने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का फल, आनन्द का मार्ग, आत्मपरमात्म–ज्ञान, निराकुलता इत्यादि की प्राप्ति संभव नहीं है। अज्ञानी व्यक्ति नदी में पाँव रखता है तो डूबने का भय है; यदि उसे फल खरीदने भेज दिया जाए तो वह ताजा फलों को छोड़कर बासी फल खरीद लेगा, क्योंकि न उसे अमृत का ज्ञान है और न विष की परीक्षा। वह हित–अहित ज्ञान से शून्य है।

ज्ञान के विषय में यह अत्यावश्यक बात है कि वह हितदायक होना चाहिए। प्रकाश अग्नि से, सूर्य से और दीपक से भी मिलता है। यदि कोई दीपक से पदार्थ–दर्शन के स्थान पर अपने वस्त्र जला ले तो यह उसका दुरुपयोग होगा। यदि विज्ञान से विध्वंसक प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण किया जाता है, किन्तु मानव–कल्याण में उसको विस्मृत किया जाता है तो यह दीपक लेकर कुएँ में गिरने के समान होगा। यदि ज्ञान–प्राप्ति के पश्चात् भी इतनी उपलब्धि नहीं हुई तो शास्त्रपाठ तोता–रटन ही रहा। वस्तुतः जिसने अन्न से अपना रस, रक्त, माँस बना लिया है, उसी ने आहार का परिणाम प्राप्त किया है; किन्तु जिसके आमाशय में अजीर्ण दोष है, वह उदर में रखने मात्र से भोजन के आरोग्य–परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। जो ज्ञान को ऊपर से ओढ़कर घूमता है, उसको कोई भी उतार सकता है; परन्तु जिसने ज्ञान को स्वसम्पत्ति के रूप में उपार्जित किया है उसे कोई छीन नहीं सकता। अतः ज्ञानोपार्जन में ज्ञान की पवित्रता के साथ–साथ उसे अपने से अभिन्न करने की महती आवश्यकता है। ऐसे ज्ञान की उपासना में मनुष्य को शास्त्र–स्वाध्याय में प्रवेश करना पड़ता है। यदि ज्ञान–प्राप्ति में अपने को तपाया नहीं, श्रम की साक्षात् उपासना नहीं की तो वह ज्ञान दुःख को नहीं मिटा सकता है। ज्ञान को श्रम द्वारा पाने से वह खिन्नता उत्पन्न नहीं करता है। ज्ञान में संसार के सभी दुःखों का चिन्तन कर लेने पर ज्ञान दुःखों से रक्षा करने में समर्थ होता है। कच्चा कुम्भ जैसे जल–स्पर्श से गल जाता है, वैसे कच्चा ज्ञान दुःख की आँच में जल जाता है। अतः परिपक्व ज्ञान–प्राप्ति के उपाय का चिन्तन करना चाहिए। यह ज्ञान मनुष्य–भव में ही हो सकता है, अतः इसे प्राप्त करने में आलस्य नहीं रखना चाहिए। आचार्य गुणभद्र ने 'आत्मानुशासन' (९४) में कहा है कि ज्ञान दुर्लभ है और यदि इसे इस जन्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
में प्राप्त नहीं किया तो अन्य जन्म में यह अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि अन्य जन्म मनुष्य का हो, यह निश्चित नहीं है।

ज्ञान का वास्तविक लाभ सांसारिक वस्तुओं का विस्तार करने में नहीं है। देखा जाता है कि भौतिक वैभव तो अज्ञानियों के पास भी खूब है। यह महत्व का सूचक नहीं है। ज्ञानी तो उसे ही कहना होगा जिसने आत्महित को जान लिया है और जिसने शरत्काल में अपने सुन्दर पंखों का परित्याग करनेवाले मयूर के समान परिग्रहों का स्वतः विसर्जन कर दिया है। वास्तव में ज्ञानविहीन को इन्द्रियाँ भी उपकारक नहीं हो पातीं। तथा ज्ञानी नेत्रों की सहायता के बिना भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष करते रहते हैं। कहा है – संसार के प्रायः सभी प्राणी अपनी इंद्रियों को बहिर्मुख रखते हैं तथा बाहरी जगत् का आनन्द लेते हैं। उनमें कोई धीर पुरुष ऐसा भी होता है जो अपनी इन्द्रियों की इस बहिर्वृत्ति का निरोध कर उसे अन्तर्मुख करता है तथा आत्मस्थित होकर अमृतपान करने में समर्थ हो जाता है। उसने आत्मभिन्न समस्त पौद्‌गलिक विभावों का परित्याग कर दिया है, जैसे सर्प ने कंचुकी उतारी हो। ऐसे व्यक्ति को ही ज्ञान की वास्तविक प्राप्ति हुई है ऐसा कहना चाहिए। महात्माओं के वचन इसी ज्ञान को लक्ष्य करते हैं। पंडित दौलतरामजी ने 'छहढाला' में कहा है कि –

जग सुहितकर सब अहितहर श्रुतिसुखद सब संशय हरैं।
भ्रमरोगहर जिनके वचन मुखचन्द्र से अमृत झरैं॥

महात्माओं के वचन संसार का हित करनेवाले, अहित की निवृत्ति में सहायक, कर्णप्रिय, समस्त संशयों का उच्छेद करने में समर्थ तथा भ्रान्तिरूप महारोग का हरण करनेवाले होते हैं।

क्रिया परिणामों से ही प्रशंसित होती है। गौ यदि शरीर से सुन्दर है किन्तु दूध नहीं देती है तो उसकी कायिक सुन्दरता वन्दनीय नहीं होती है। जैसे धेनु का रूप उसका दूध है, वैसे ज्ञान का फल अज्ञाननिवृत्ति से उत्पन्न अनुभव है। किसी ने दूर से देखकर कह दिया कि मैं अग्नि को जानता हूँ, क्या उसने उसके दाहकत्व का स्पर्श भी किया है? अथवा कोई गुड़ का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम ले ले, क्या उसे गुड़ की मधुरता का अनुभव हो जाता है? हेयोपादेय पदार्थों को जानकर यदि कोई उन्हें अंगुलियों पर गिन देता है तो उसे मात्र सूचना कहना संगत होगा। ज्ञान के नाम से आकाश की ओर मुख उठाकर तारे गिननेवाले निरे सूचनावादी नहीं तो क्या है? ज्ञानार्जन का अभिप्राय है तन्मय हो जाना। जब अग्नि और उष्णता के समान ज्ञान और ज्ञानी में एकीभाव हो तब ज्ञान चरितार्थ समझना चाहिए। जलता हुआ दीपक देखकर कोई यह प्रश्न नहीं करता कि क्या यह दीपक जल रहा है? 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' – हाथ कंगन को आरसी क्या – जिसने आत्मप्रदेश में ज्ञानदीप की प्रतिष्ठा की है उसे देखकर दृष्टा को स्वतः प्रतीति होनी चाहिए कि वह किसी ज्ञान शक्ति के समक्ष उपस्थित है। इन्द्र जिन की वीतराग मुद्रा को सहस्त्र नेत्रों से अपलक देखकर थके नहीं। यह निरन्तर स्वाध्याय का फल होना चाहिए।

जब अग्नि में काष्ठ डाला जाता है तब अग्नि उसके नामरूप का हरण कर लेती है। वह काष्ठ बाहर-भीतर अग्नि हो जाता है। कोई काष्ठ अग्नि में जाकर काष्ठ नहीं रह जाता फिर ज्ञान-समर्पित व्यक्ति अभीक्ष्ण उपयोग द्वारा तन्मय क्यों नहीं हो? निर्धूम अंगार की ज्योति समस्त अग्नि से मिलती हुई होती है। काष्ठों की पृथक् जातियाँ वहाँ विलीन होकर निःशेष हो जाती हैं। ज्ञानाग्नि से समस्त कर्मों को जला देनेवाले परमात्मारूप ही हो जाते हैं। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि – हे भव्य! लोक-प्रसिद्धि की इच्छा न रखते हुए शास्त्र को ऐसा पढ़ो तथा प्रसिद्ध कायक्लेश के उपायों का आश्रय लिये बिना ही शरीर को भी उतना शुष्क कर लो कि दुर्जय कषाय-विषयों पर विजय पा सको; क्योंकि मुनि तप और शास्त्र-स्वाध्याय-फलित ज्ञानार्जन का परिणाम शान्ति को ही मानते हैं। शास्त्रपाठ कर लोग उसका प्रदर्शन करने लगते हैं, वे बताते हैं कि मैंने अमुक शास्त्र पढ़ा है, अमुक मुझे कण्ठस्थ है। वे अपना कायक्लेश तो करते हैं; किन्तु लोगों के समक्ष यह भी घोष करते रहते हैं कि मैं अल्पाहार, उपवास आदि विशेषरूप से रखता हूँ। वास्तव में तप और शास्त्र-स्वाध्यायरूप क्रियाएँ बहिरंग प्रदर्शन का त्याग सिखाती हैं। उनका उद्देश्य तो अन्तःशान्ति है। शास्त्र पढ़कर लोक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
प्रसिद्धि की चाह रखनेवाले कभी सच्चे स्वाध्यायी नहीं हो सकते क्योंकि उनके आत्मतोष का साधन लोकप्रसिद्धि है, ऊँचे मंचपर पाँच विद्वानों में बैठने से उन्हें सुखप्रतीति होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि शास्त्राध्ययन के समय उन्हें आनन्द की अनुभूति नहीं होती। ऐसी स्थिति में तो कहना चाहिए कि जैसे कोई महिला अपने को बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से सज्जित कर उससे तब तक सन्तुष्ट नहीं होती जब तक उसका प्रदर्शन न कर ले, उसी प्रकार वह व्यक्ति जो ज्ञान को बाजार में खींच ले जाना चाहता है तथा वहाँ प्राप्त वाह-वाह से अपने स्वाध्याय को सिद्ध मानता है, वह भूल में है और गोपनीय मणि को अल्पमूल्य पर बेचकर सुख मानता है।

ज्ञान देने से पूर्व गुरु को ज्ञान लेनेवाले की परख करनी चाहिए। अपात्र को दिया गया दान मद्यपान अथवा द्यूत की भेंट भी हो सकता है। लोग खट्टी छाछ रखने के लिए तो पात्र-अपात्र का विचार रखते हैं और ज्ञान-संपत्ति को फटी हुई पाकेट में रखे हुए पैसों की तरह रास्ते में बिखेरते चलते हैं। इसीलिए ज्ञान अपने वास्तविक फल में शून्य हो गया है। नौका पानी में ही स्थिर रहती है, मैदानों में निकलकर लोगों का आवाहन नहीं करती। जिसे पार उतरना हो वह स्वयं तट पर आकर शुल्क देता है। पुस्तक का मूल्य मात्र व्यवसाय के दृष्टिकोण से ही नहीं रक्खा जाता, उसे आवश्यक हाथों तक पहुँचाना भी उसका उद्देश्य होता है। 'ज्ञान' एक महामणि है, किन्तु 'इन्द्रियरूप तस्कर इसे चुराने के लिए प्रतिपल उद्यत हैं। अतः सदैव जागृत रहना होगा। प्रातःकाल के एक भजन में किसी ने बहुत सुन्दर गाया है –

उठ, जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है ॥

प्रायः लोग शैया से तो प्रातःकाल देर-सवेर उठ ही जाते हैं परन्तु रात्रि होते-होते पुनः शयन-कक्षों में पहुँच जाते हैं। इसप्रकार भौतिक रात्रि तो प्रतिदिन अस्त होती रहती है परन्तु अध्यात्म दृष्टि से जीवन-पर्यन्त दिन अस्त नहीं होता है। सूर्य के प्रकाश में तो लौकिक तिमिर के नाश का अनुभव सभी करते रहते हैं तथापि आत्मप्रकाश का प्रभात बहुत कम व्यक्ति देख पाते हैं। ज्ञान ही वह सूर्य है जिसके आलोक में आत्मा को कभी अस्त न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होनेवाले दिन की प्रतीति होती है। यह ज्ञान-रत्न जिसके पास हो वह प्रमाद की शैया पर क्षण भर भी सो जाए तो उसके लुटने का भय रहता है। फकीर तो कहीं भी सोये, उसकी फटी गुदड़ी को चोर नहीं लगते, परन्तु रत्न रखनेवाले की मूर्च्छा उसी के लिए हानिप्रद हो सकती है।

अग्नि की ज्वाला हवन-कुण्ड से ऊपर निकल कर आस-पास बैठे हुए को अपनी सत्ता का भान कराने लगती है। इसी प्रकार अन्तःकरण में विराजमान ज्ञान-ज्योति आकृति पर प्रतिफलित होने लगती है। उस ज्ञान से साम्यावस्था का प्रादुर्भाव होता है जिसे अहिंसक शक्ति के रूप में विश्व अनुभव करता है। अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर अहिंसक के समीप प्राणियों में वैरत्याग की भावना का उदय हो जाता है तब मृगी सिंहशिशु का दुलार करने लगती है और गौ-वत्स के समान उससे वात्सल्य जताने लगती है। यह सहज शत्रुओं का पारस्परिक मैत्रीभाव है और जो स्वभावतः मित्र है उनमें तरंगित होनेवाले स्नेह-व्यापार का तो वर्णन कहाँ किया जा सकता है? यह अहिंसक परिणाम ज्ञान-तप की सिद्धि से ही संभाव्य है। ज्ञानी के नेत्र विषय-कषाय से आच्छन्न नहीं होते। उनमें विश्वमैत्री के मणिदीप जलते हैं। सिद्धियों की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान केवल लौकिक साध्यों की उपलब्धि में ही सहायक नहीं, उसकी पराकाष्ठा तो पूर्ण अध्यात्म में है। 'णत्थि परोक्खं किंचि वि' – सर्वज्ञ से परोक्ष कोई पदार्थ नहीं है। ज्ञान का पूर्ण परिणाम अध्यात्म में निहित है और अध्यात्म का बीज कर्मक्षय में है। कर्मक्षय के लिए भेदविज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में तपस्वी के लिए तीन बातों का निरूपण करते हुए लिखा है – जो विषयों की आशा से अतीत है, आरम्भ-त्यागी तथा परिग्रह-रहित है एवं ज्ञान, ध्यान और तप में अनुरक्त है वह तपस्वी विशिष्ट है, तपस्वियों में श्रेष्ठ है।

साधारणतः होनेवाली मृत्यु तथा विधिपूर्वक ली गई सल्लेखना में ज्ञान-संयोग ही मुख्य विभेदक रेखा है। ज्ञान द्वारा ही धर्ममार्ग-प्रभावना की जा सकती है। धर्म के प्रकाशन में, अधर्म के निर्मूलन में, हितकारक-उपदेश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में, ज्ञान मुख्य सहायक है। इसीलिए सर्वार्थसिद्धि में साधु के लिए सम्यग्ज्ञानाराधन में नित्य युक्तता को 'अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग' कहा गया है। पुनः-पुनः चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। जिसप्रकार गौ आदि पशु भुक्त वस्तु का विश्राम के समय चर्वण करते हैं और उस क्रिया द्वारा भुक्त पदार्थों का रसमय परिपाक प्राप्त करते हैं वैसे ही प्राप्त विद्या का मन्थन करना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से श्रुतदृढ़ता की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार गाय को बाँधने का खूँटा एक ही चोट में गहरा नहीं धँसता, उसे बार-बार हिला-हिलाकर, ठोककर सुदृढ़ किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान को स्थिर करने की प्रक्रिया 'अभीक्ष्णता' में है। विद्या के विषय में किसी ने बहुत मार्मिक सूक्ति लिखते हुए कहा है – विद्या (ज्ञान) सौ बार के अभ्यास से आती है और सहस्त्र बार किये गये अभ्यास से स्थिर होती है। यदि उसे सहस्त्र बार सहस्त्र से गुणित किया जा सके तो वह इस जन्म में तथा जन्मान्तर में भी साथ नहीं छोड़ती। सतत अभ्यास का नाम ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के मूल में अविच्छिन्न आत्मध्यान की भावना है; क्योंकि ज्ञानोपयोग के अभाव में मन को संभालना कठिन हो जाता है। यह मन वानर है, चंचल है अतः अपनी चंचलता को छोड़ेगा नहीं। ऐसा विचार कर इसे शास्त्रवृक्ष पर चढ़ने-उतरने का सतत कार्य दे दिया जाए तो यह उसी में लगा रहेगा। अभीक्ष्णता अभ्यास का ही नामान्तर है। धर्म, शास्त्र तथा धन का थोड़ा संग्रह भी कालान्तर में समुद्र समान बन जाता है। क्षण-क्षण से विद्या का उपार्जन होता है, ऐसा विचारते रहना चाहिए। ज्ञान को आत्म-सम्पत्ति बना लेने के पश्चात् सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं उसमें स्थापित हो जाते हैं।

ज्ञान की पिपासा कभी शान्त नहीं होती। ज्ञान प्रतिक्षण नूतन है, वह कभी जीर्ण या पुराना नहीं पड़ता। स्वाध्याय, चिन्तन, तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपायों से ज्ञान-निधि को प्राप्त किया जाता है। जो चिन्तन के समुद्र पी जाते हैं, स्वाध्याय की सुधा का निरन्तर आस्वादन करते रहते हैं, संयम पर सुमेरु के समान अचल-स्थिर रहते हैं, वे ज्ञान के अधिकारी होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान के पथिकों का मार्गदर्शन स्वयं सरस्वती करती है। न्यायशास्त्र के वैदिक विद्वान् कणाद महर्षि के विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे हर समय ग्रन्थावलोकन में दत्त-चित्त रहते थे। एक दिन मार्ग चलते-चलते पुस्तक पढ़ रहे थे, तो किसी कूप में गिर पड़े; परन्तु वहाँ भी गिरते ही उठ बैठे और पुस्तक पढ़ने लगे। उनकी विद्यानिष्ठा से सरस्वती प्रसन्न हुई और प्रकट होकर बोलीं – 'क्या चाहते हो?' महर्षि ने कहा – 'मार्ग में चलते हुए पढ़ सकूँ, इसलिए पैरों में दो आँखें लगा दो।' तब से उनका नाम 'अक्षपाद' हो गया। ऐसे ही एक अन्य विद्वान् हुए हैं, जिनका नाम वाचस्पति था। बीस वर्ष तक एक दार्शनिक व्याख्या-ग्रन्थ लिखते रहे और उन्हें घर में उपस्थित पत्नी का पता भी नहीं चला। बीस वर्ष बाद ग्रन्थ-समाप्ति पर उन्हें ज्ञान हुआ कि बीते वर्षों में निरंतर कष्ट सहनकर ग्रंथ-लेखन में निराकुलता देनेवाली यह मेरी पत्नी है। उन्होंने पत्नी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए ग्रन्थ का नाम 'भामती' रखा जो उनकी उस साध्वी पत्नी का नाम था और उसे अमर कर दिया। आज वैदिक दर्शनधारा के विद्वान् वाचस्पति को कम और भामती को अधिक जानते हैं। ज्ञानाराधना में डूबे हुए लोग भोजन का स्वाद भूल जाते हैं, दिन--रात का भान भूल जाते हैं। पदार्थ-तत्त्व-जिज्ञासा में वे तल्लीन हो जाते हैं। उन्हीं के सामने वस्तुस्वरूप व्यक्त होता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की महिमा का सर्वथा वर्णन कर सकना कठिन है।

यद्यपि जीव ज्ञान-चेतनात्मक है, तथापि उसका ज्ञानपरक उपयोग यदि नहीं किया जाए तो सक्रिय हुआ मन व्यक्ति के लिए अनर्थ परम्पराओं की सृष्टि करने लगेगा। अतः जैसे खड्गधारा को तेज किया जाता है, वैसे आत्मतत्त्व विषयक नित्य निमग्नता के लिए ज्ञान का उपयोग करते रहना ही आत्मोपलब्धि का मार्ग है। सम्यग्दर्शन का फल सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न है। बिना ज्ञान के चारित्र व्यर्थ है। चारित्र का पालन ज्ञानपूर्वक होना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान समान पवित्र कुछ नहीं है। स्व-पर-विवेक, हेयोपादेय-विज्ञान, आत्मरति तथा परविरति ज्ञान से उत्पन्न होती हैं। इसी विचार से महाव्रती साधु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में लगे रहते हैं। ध्यानाग्नि में सब कर्म क्षणमात्र में भस्म हो जाते हैं और वह ध्यानाग्नि ज्ञान-रूप काष्ठ से प्रकट होती है।

स्वाध्याय ज्ञानोपयोग का व्यवहार-मार्ग है और मैं शुद्ध, मुक्त परमात्मा हूँ; आत्मस्वरूप हूँ – यह ज्ञानोपयोग का निश्चय परिणाम है। जैसे हम ग्रन्थ के अक्षरों को अर्थरूप में परिणतकर उपयोगी बना लेते हैं वैसे ज्ञान से विश्व के समस्त पदार्थ अपने वास्तविक स्वभाव में प्रतीत होने लगते हैं। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी अज्ञान के अन्धकार में नहीं डूबता; क्योंकि वह ज्ञानोपयोगरूप सूर्य को जाग्रत रखता है।

मन, वचन और काय-संयम से ज्ञान का सतत दीपक जलता है। जो इन तीनों को त्रिवेणी-संगम नहीं दे सकता उसके चंचल मन की आँधियाँ ज्ञान-दीपक को बुझाने का प्रयत्न करती रहती हैं। सद्-असद् का विवेक ज्ञान द्वारा ही संभव है। इस लोक तथा परलोक में मार्गदर्शन ज्ञान से ही होता है। जैसे सूर्य की उपस्थिति में सभी पदार्थ दिखाई देने लगते हैं और अन्धकार में नहीं सूझते, वैसे ज्ञानबल से भौतिक-आत्मिक विज्ञान की उपलब्धि सुगम हो जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिली है मनुष्य गति तो जगाओ विवेकमति

– आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

जैन संस्कृति के अमरगायक आचार्य अमितगति कहते हैं कि 'भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम्' – संसार की चौरासी लाख योनियों में मनुष्य-जन्म सर्वप्रधान है, श्रेष्ठ है। मनुष्य के समान अन्य कोई योनि (पर्याय) नहीं है। इस संसार में, संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में जितना विकसित, समृद्ध मानव है उतना अन्य कोई नहीं। चाहे भौतिक उपादानों को देखिए अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र की गहराइयों में डुबकी लगाइए, मनुष्य जैसा तो मनुष्य ही है। अन्य प्राणी आजतक उसी पूर्वावस्था में हैं जैसे वे अनादिकाल में थे। किन्तु कल्पवृक्षों की छाया में पलनेवाला मनुष्य आज अणु-सभ्यता के युग में श्वास ले रहा है। वह पवनवेग से आकाश में सर्राटे के साथ उड़ता है, पानी में शार्क की तरह डुबकी लगाता है और इस पृथ्वी पर कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न वातावरण में सभी सुख-सुविधाओं के साथ जीवनयापन करता है। दिन-प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर होता हुआ यह मानव सभी प्राणियों से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध कर रहा है। इसी ने शरीर से भिन्न आत्मा को पहचाना है और स्व-पर विवेक से नर से नारायण-पद को प्राप्त किया है।

यह हुई नरजन्म की श्रेष्ठता। किन्तु केवल नरजन्म प्राप्त करने से, केवल भौतिक समृद्धि से मनुष्यपर्याय को सार्थक नहीं कहा जा सकता। उसे सार्थक और कृतार्थ करने के लिए अथक तपश्चर्या की आवश्यकता है। जिस प्रकार सुवर्ण अग्नितप्त होकर ही विशुद्धि प्राप्त करता है, मेंहदी के पत्ते पीसे जाने पर ही रंग उगलते हैं, चन्दन घिसने पर ही सुगन्धि देता है, धान्य फटकने पर ही उपभोग्य होता है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म भी ज्ञानाग्नि में तपकर, अपने 'सुवर्ण' को प्राप्त करता है। इस संसार में जो कुछ श्रेष्ठ है उसे पाने के लिए तपश्चर्या करना अति आवश्यक है। कहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है – 'जो कठिन है, दुर्लभ है, पहुँच से बाहर है वह सभी तपश्चर्या से मिल जाता है।'

तप से शरीर और आत्मा संस्कारशील बनते हैं, उनमें निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब ग्रहण के समान, पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति आती है। नहीं तो, जिस प्रकार तुषार से ढका हुआ चन्द्रमा स्पष्ट दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार मलाच्छन्न आत्मा पर ज्ञान प्रतिफलित नहीं होता। नीतिकारों ने भी कहा है – 'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।' पशुओं में तथा मनुष्यों में खाना, पीना, सोना, उठना, रति-विलास करना ये सब तो समान ही हैं। यदि मनुष्य अपने इन पशु-गुणों में विशिष्ट है तो उसे वास्तविक अर्थ में मनुष्य नहीं कहा जा सकता।

निगोद से निकलकर मनुष्यपर्याय प्राप्त करना बहुत कठिन है। कहा है – 'कर्मयोग से नरगति लहे'। कभी किसी शुभ कर्म का निमित्त मिल जाता है तो मनुष्यगति में जन्म होता है। इस मनुष्य-योनि के लिए देवता भी तरसते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है –

मणुव-गदीए वि तओ मणुव-गदीए महव्वदं सयलं।
मणुव-गदीए झाणं मणुव-गदीए वि णिव्वाणं ॥ २९९॥

– मनुष्यगति में ही तप होता है, मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्यगति में ही ध्यान होता है और मोक्ष की प्राप्ति भी मनुष्यगति में ही होती है।

'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। इस मनुष्ययोनि में ही आत्मा का विवेक होता है और स्व-पर का ज्ञान मिलता है।

यह ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न नरजन्म बाह्य-आन्तर चिन्तन-धाराओं के भेद से दो भागों में बँटा है। इसका एक भाग भौतिक है और दूसरा आत्मिक। भौतिक-पदार्थों के प्रति आसक्ति की अधिकता से यह प्राणी कभी-कभी इस स्थूल जगत् को ही साध्य मानकर इसी में डूब जाता है। मनुष्य जब विषयों के पीछे इस श्रेष्ठ भव को लगाता है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई मूर्ख कोदों की खेती कर उसके चारों ओर कपूर की बाड़ लगाता हो, लाख (लाक्षा) तपाने के लिए चन्दन की लकड़ी फूँक रहा हो, अथवा पंक को उजालने के लिए केसर का मिश्रण कर रहा हो। क्योंकि, वास्तव में जिस शरीर को हम सर्वस्व मानकर भौतिक उपादानों का अम्बार लगाकर इसकी सुन्दरता, कोमलता और चारुता को अक्षुण्ण/सुरक्षित रखना चाहते हैं वही शरीर जर्जर बुढापा आने तक शिथिल हो जाता है। इसमें विकार आ जाते हैं जिससे आँख, नाक, कान, मुँह, दाँत और सभी इन्द्रियाँ निर्बल, निष्क्रिय हो जाती हैं। मन की आज्ञा को तन अस्वीकार कर देता है। अपने ही घर में तन और मन में द्वैध खड़ा हो जाता है। तृष्णा वैसी ही तरुण बनी रहती है। इस तृष्णा का क्षय नहीं होता। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं उसी की प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि किसी विषय पर एकाग्र प्रतिष्ठित होती है। नहीं तो दीवाल घड़ी के 'पैण्डुलम' के समान इधर-उधर डोलायमान रहती है। ऐसे मनुष्यों की इच्छाएँ आटा छाननेवाली चालनी के समान सहस्रमुखी-अनन्त छिद्रवाली होती है। जिससे वे किसी एक विषय पर स्थिर होकर विचार, चिन्तन तथा निर्णय नहीं कर सकते। यह करूँ, वह करूँ इसी ऊहापोह में जिन्दगी बीत जाती है। ऐसे लोगों पर तरस खाकर किसी नीतिकार ने खूब कहा है –

करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्॥

करूँगा, करूँगा, करूँगा – इसप्रकार ऊहापोह करते-करते दीर्घसूत्री मनुष्य भूल जाता है कि कभी मरना भी पड़ेगा। 'निकला हुआ श्वास फिर लौटे या नहीं लौटे' यह मानकर अपने को निश्चय बुद्धि से कार्य-संलग्न करनेवाला ही जीवन-संग्राम में विजयी होता है। क्योंकि –

न कश्चित् कस्य जानाति किं कस्य श्वो भविष्यति।
अतः श्वःकरणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान्॥

नीतिकार कहते हैं – 'श्वःकार्यमद्य कुर्वीत' – जिस कार्य को तुम कल करना चाहते हो उसे आज ही कर डालो क्योंकि बीच समुद्र में चलती हुई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नौका का भरोसा नहीं और 'ना जाने इस श्वास को आवन होय न होय' – इस श्वास का भी विश्वास नहीं।

अतः बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह दान देने में, स्वाध्याय करने में तथा अच्छे कर्मों में लगा रहे और अपने दैनिक जीवन को सफल बनावे। हितोपदेश में लिखा है –

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

जब मनुष्य को पढ़ना हो अथवा धन कमाना हो तो 'मैं अजर-अमर हूँ' – इस भावना से कार्य प्रवृत्त हो किन्तु जब धर्म का आचरण करना हो तो सोचें कि 'मृत्यु मेरे केशों को पकड़ कर खड़ी हुई है' अर्थात् 'शुभस्य शीघ्रम्'। धर्म के विचार उठें तो तुरन्त उन्हें कार्यान्वित करें, विलम्ब न करें।

'भिन्नरुचिर्हि लोकः' – यह लोक भिन्न-भिन्न रुचिवाला है। कहते हैं –

काहू के वैराग्य-रुचि, काहू के रुचि नीति।
काहू के शृंगार-रुचि, जुदी-जुदी परतीति॥

इस संसार में किसी को वैराग्य की ओर रुचि है, किसी की नीति पर रुचि है, कोई शृंगार से प्रेम करता है, इस प्रकार जीव को भिन्न-भिन्न परिणति होती है। कोई सरल मार्ग से चलना पसन्द करता है तो किसी को साँप की टेढ़ी चाल अच्छी लगती है।

मनुष्यों की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। रात्रि में निद्रा में उसका आधा भाग चला जाता है। रहे पचास वर्ष, बाल्यावस्थां और बुढ़ापे में आधा निकल जाता है और शेष बचा हुआ भाग रोग-दोष-दुःख और सेवावृत्ति में व्यतीत हो जाता है। इस प्रकार पानी की लहरों के समान चंचल जीव को सुख की प्राप्ति कहाँ?

प्रश्न हो सकता है कि यह सुख क्या है? वह समय जो निद्रा में व्यतीत हो गया, खाने-पीने में निकल गया, क्या उसे सुख नहीं कहा जा सकता?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांसारिक सुख को सुख क्यों नहीं माना जा सकता? नीतिकारों ने कहा है कि जो परिणाम में सुख प्रदान करे वही सच्चा सुख है। इस कसौटी पर विषय-सुख नहीं ठहरते। वे बाजार की उन रंग-बिरंगी मिठाइयों के समान हैं जो देखने में सुन्दर और चखने में मधुर प्रतीत होती हैं किन्तु खाने पर अनेक रोग उत्पन्न करती हैं। वास्तविक सुख प्रतीत होता है विष के समान, किन्तु परिणाम उपस्थित करता है अमृत के समान। 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' – जैसे – कड़वी औषधि चखने पर अस्वादु लगती है किन्तु रोग का नाशकर सुख पहुँचाती है। जैसे – गुरु, माता, पिता की सीख, उनके हितोपदेश सुनने में कानों को प्रिय नहीं लगते, किन्तु मनोयोगपूर्वक गुनने पर लाभप्रद होते हैं। सच्चे सुख की यही प्रतीति है कि वह निर्मल और सतत आनन्द की उपलब्धि कराता है।

ऐसा सुख भौतिक नहीं हो सकता, आत्मिक-सुख ही उस कोटि का कहा जा सकता है। अतः भौतिक सुख वास्तविक सुख नहीं है अपितु सुखाभास है, क्योंकि उसमें किसी न किसी इन्द्रिय की तृप्ति और विकलता बनी रहती है। अपूर्णता का भान होता रहता है।

वास्तव में जितने भौतिक सुखाभास हैं उनमें दुःख जुड़ा रहता है। देखिये भौतिक सुख-दुःख का मिश्रित रंगारंग रूप –

नानी मरन, सुता जनम, पुत्रवधू-आगौन।
तीनों कारज एक दिन भये एक ही भौन॥
यह संसार विडम्बना देख प्रकट दुख खेद।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ़ न जानहिं भेद॥

– महाकवि पं. बनारसीदासजी

संसार के प्राणी प्रतिदिन यमराज के अतिथि हो रहे हैं किन्तु जो जीवित हैं वे निरन्तर यहीं बने रहना चाहते हैं। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा? संसार की इस असारता पर कबीर कहते हैं –

माली आवत देखकर करि, कलियां करी पुकार।
फूले फूले चुन लिये, काल्ह हमारी बार॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् माली को आता हुआ देखकर कलियां पुकार करने लगीं कि बाग में जितने फूले हुए पुष्प थे उन्हें माली चुन ले गया और कल हमारी बारी आनेवाली है। इसलिए इस असार संसार में लिप्त रहकर मृत्यु को प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों से वे अच्छे हैं जो मुक्तिपथ देखने की उत्कण्ठा रखते हैं, सुलझे हुए मस्तिष्क से साधना के मार्ग पर प्रवृत्त होते हैं तथा विलासिता को छोड़कर कठोर तप में प्रवृत्त होते हैं।

साधना का वह मार्ग ही नर के भाग्योदय का पथ है, उसके सुख की 'गारण्टी' है। निर्वाण का अभय-पत्र है। उसके नर-पर्याय की सार्थकता है। वह मार्ग कौनसा है इसे निरूपित करते हुए पं. दौलतराम कहते हैं -

यह मानुष-पर्याय-सुकुल-सुनिबो जिनवानी।
इहि विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधिसमानी ॥

मनुष्य पर्याय में जन्म, श्रेष्ठकुल की प्राप्ति और प्रसादरूप में भगवान् जिनेन्द्र की निर्दोष वाणी का श्रवण और उसपर आचरण, यदि ये सब यों ही निकल गये तो फिर इनका मिलना दुर्लभ है मानो सुमणि हाथ में आकर समुद्र में गिर गई।

इस निरूपण से दो बहुमूल्य सूचनाएँ प्राप्त होती हैं - १. मनुष्य पर्याय सुमणि के समान है और अति दुर्लभ है और २. भगवान् जिनेन्द्र की वाणी का श्रवण करना ही इस पर्याय की सार्थकता है। आगम को सुनकर उस पर विवेकपूर्वक आचरण करके निष्ठावान् प्राणी अपने आत्मोत्कर्ष का यह पुनीत मार्ग पा सकता है। कहा है - 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्' - अपनी आत्मा का अपने ही पुरुषार्थ से उद्धार करना चाहिए। इसे हीनबल नहीं मानना तथा विषाद में निमग्न नहीं करना चाहिए। क्योंकि यही प्राणी का परम मित्र है। इसी के प्रकाश में जिनवाणी के रहस्य प्रकट होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आलस त्यागो, पुरुषार्थ जगाओ

– आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

इस संसार में भिन्न-भिन्न स्वभाववाले मनुष्य हैं। कुछ दैव को मानते हैं और कुछ पुरुषार्थ को। कुछ इनसे भिन्न दैव और पुरुषार्थ दोनों को स्वीकार करते हैं। इनमें भी कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो पुरुषार्थ को दैव का उत्पादक मानते हुए कहते हैं – 'पुरुषार्थ के बिना दैव को प्राप्त नहीं किया जा सकता।' जिस व्यक्ति में उत्साह, पुरुषार्थ, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम – ये छह बातें हों वहीं भाग्य अथवा दैव सहायता करता है। बहुत लोग कहते हैं कि भाग्य-भाग्य की रट तो आलसी लगाया करते हैं। अतः दैव को ठोकर मारकर आत्मशक्ति अर्थात् पुरुषार्थ से उद्योग करो। इससे विरुद्ध मत रखनेवाले कहते हैं – अहो! सूर्य और चन्द्रमा को भी ग्रहण लग जाता है और मदोन्मत्त गजेन्द्रों को तथा भयानक विषधरों को भी लोग वश में कर लेते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् दरिद्रता में घुटते रहकर जीवन समाप्त करते हैं। इन सबको देखकर निश्चय होता है कि विधि अर्थात् भाग्य ही बलवान् है।

इस प्रकार कितने ही मात्र उद्यम के गीत गाते हैं, कितने ही एक केवल भाग्य की प्रशंसा करते हैं और कुछ दैव और पुरुषार्थ दोनों के भक्त रहकर कार्यों की सफलता का मुकुट पुरुषार्थ के सिर पर बाँधते हैं तो असफलताओं की घण्टी दैव के गले में लटका देते हैं। इन दैव और पुरुषार्थवादियों अथवा उभयवादियों के समूह संसार में सर्वत्र पाये जाते हैं। कुछ अपनी असफलताओं से त्रस्त होकर दैव की शरण में चले जाते हैं और कुछ अपने पुरुषार्थ के सफल परिणामों को देखकर उद्यम के प्रशंसक बन जाते हैं। भाग्य और उद्यम के इन समन्वित और विरोधी दृष्टिकोणों को जानने के लिए हमें इनके मूल को जानना आवश्यक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'भाग्य' शब्द के पर्याय शब्दों को लिखते हुए कोषकारों ने इसे दैव, नियति, विधि शब्दों से संबोधित किया है। पुरुषार्थ के बिना सिद्ध हुए कार्यों की सफलता में यदि 'दैव' का हाथ समझा जाए तो कहना होगा कि उद्यम के बिना सम्पन्न हुए इस कार्य में दैव की क्रीड़ा है, कठोर श्रम से कार्य की सफलता प्राप्त करनेवाला उसे दैव अर्थात् 'क्रीड़ा' (खेल-खेल में ही कार्य सम्पन्न हो गया ऐसा) नहीं कहता।

दैव का एक नाम 'अदृष्ट' भी है। अदृष्ट का अर्थ है – जिसे देखा नहीं। हम चेतनावस्था में जितने कार्य करते हैं उन्हें देखते हैं, फिर यह 'अदृष्ट' कौन? इसी के उत्तर में दैव और पुरुषार्थ का समन्वय निहित है। हम इस जन्म में जो शुभ-अशुभ कर्म करते हैं उनमें से कुछ का फल भोग लेते हैं और कुछ अभुक्त रह जाते हैं। वे अभुक्त कर्म ही जन्मान्तर में प्रकट होते हैं क्योंकि इस जन्म में हमने उनको नहीं देखा अतएव वे 'अदृष्ट कर्म' कहे जाते हैं। आयुर्वेदशास्त्र में पीठ में उठनेवाले फोड़े को अदीठ कहते हैं। वह पीठ में होने के कारण आँखों द्वारा देखा नहीं जाता अतः 'अदीठ' कहा जाता है। ये कर्म भी इस जन्म में चर्मचक्षुओं से देखे नहीं गये अतः 'अदृष्ट' कहे जाते हैं। 'अदृष्ट' को पूर्व जन्म में उपार्जित शुभ-अशुभ कर्म मान लेने पर इन्हें भी परभव के 'पुरुषार्थ' ही मान लेना आवश्यक है। केवल इस जन्म और परजन्म के भेदजन्य होने से इनमें नामभेद परिकल्पित किया गया है।

'पुरुषार्थ' पुरुष का श्रम है, उपार्जित सम्पत्ति है। जो पुरुषार्थ के मार्ग पर प्रवृत्त रहता है वह दुःखी नहीं होता। पुरुषोचित कार्यों को करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने का संकल्प करनेवालों ने यहाँ बहुत काम किये हैं। दैव को 'अदृष्ट' मानकर उस पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। जिसे आँखें मिली हैं वह अपने 'दृष्ट' पर भरोसा करे, अदृष्ट के द्वारे याचना करने क्यों जाए? यदि जन्मान्तर का उपार्जित है तो वह अवश्य अपने समय पर फलदायी होगा और यदि जन्मान्तर की 'हुण्डी' में जमा का अंक बराबर है तो उसके आश्रय बैठे रहने का फल तो स्वयं अपने विनाश का आवाहन करने के समान है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जन्मान्तर का 'अदृष्ट' पुण्य-परिणामी (अनुकूल) भी हो सकता है और अशुभ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेवाला भी, अतः अशुभ से बचने के लिए भी निरन्तर पुण्यमय उद्योग करने में मनुष्य को संलग्न रहना चाहिए। सूर्य अपना कार्य करते-करते डूब जाता है, चन्द्रमा अपनी कलाएं बाँटते-बाँटते निःशेष हो जाता है, वृक्ष अंकुरित होकर शनैः-शनैः अपनी जड़ों को पाताल तक ले जाते हैं और आँधियों के प्रचण्ड वेग में खड़े रहने का सामर्थ्य पा लेते हैं। भाग्य की बाट जोहनेवाले को अपनी मंजिल तय करने में बड़ा श्रम होता है। वह एक-एक कदम चलता हुआ किसी आकस्मिक सहायता की इच्छा करता रहता है। फलतः उसके पांव किसी भी क्षण प्राप्त होनेवाली दैवी सहायता की सम्भावना में भारी रहते हैं और श्रम करते हुए भी वह श्रम का सच्चा आनन्द नहीं पाता।

संसार में जो नानात्व दिखायी देता है वह पूर्व जन्म के उपार्जित श्रम और इस जन्म के उद्यम का फल है। अन्यथा एक ही श्रेणी में पढ़ते हुए बालक योग्यता में भिन्न-भिन्न कैसे हो सकते हैं? एक ही समय में दो व्यक्तियों द्वारा आरंभ किये जानेवाले कार्यों में परिणाम-भेद कैसे आ सकता है? भाग्य की (पूर्वोपार्जित सम्पत्ति की) इसी विशेषता पर लुब्ध होकर किसी ने कहा – स्त्री को भाग्यवान् बच्चों को ही जन्म देना चाहिए, शूरवीर अथवा पण्डित उत्पन्न हुआ तो क्या लाभ? किन्तु भाग्यवान् को उत्पन्न करना अपनी इच्छा के अधिकार में नहीं है। इसलिए इस संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चतुर्विध पुरुषार्थ ही माना है। धर्म करना हो तो पुरुषार्थ करो, अर्थ कमाना हो तो पुरुषार्थ करो, संसार के काम-भोगों की पर्याप्ति करनी हो तो उसके निमित्त पुरुषार्थ करो। मोक्ष पाना हो तो उसके लिए भी सर्वोच्च पुरुषार्थ करो। भाग्य ने अभी तक किसी को मोक्ष-द्वार तक नहीं पहुँचाया। अतः पुरुषार्थ करना सिद्धियों को आमंत्रण देना है, सफलताओं के सागर में अवगाहन करना है। पुरुषार्थ करनेवाली चींटी भी सैंकड़ों योजन मार्ग तय कर सकती है और भाग्य के विश्वास पर बैठे रहनेवाला गरुड़ एक कदम भी नहीं चल सकता।

यहाँ भाग्यों के चमत्कार भी देखने में आते हैं और कभी-कभी उद्योग की आशानुकूल सफलता भी नहीं देखी जाती। फिर भी लोग उद्योग करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्द नहीं करते। भाग्य की उपलब्धि पुरुषार्थ के पथ को धूमिल नहीं बना पाती। कभी-कभी पुरुषार्थ भाग्य को आश्चर्य से देखता है किन्तु श्रम के परिणाम पर दैव को सदैव चकित होना पड़ता है। पुरुषार्थ सफलताओं की सूचना है और दैव इस प्रकार की कोई 'घोषणा' नहीं कर सकता। मनुष्य के शरीरसंस्थान में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समूह निरन्तर कार्यशील हैं। अतः कार्य में विवेकपूर्वक प्रवृत्त रहना पुरुषार्थसिद्धि का प्रथम उपाय है। भाग्यवादी को लोग आलसी कहते हैं। आलसी कभी कार्यसिद्धि को प्राप्त नहीं करते। भाग्य स्वयं में कुछ नहीं है अपितु यह पुरुषार्थ की गूंज है। श्रम का उत्तरवाक्य है। श्रम से टपकनेवाले पसीने की धारा में गुलाब की सौरभ उठती है। आत्मा के अनन्तवीर्य को पुरुषार्थ में नियोजित करनेवाला सच्चा मेहनती है।

दैव की उत्पत्ति के इस रहस्य को जो जान लेता है वह भाग्यवादियों के समान अकर्मण्य होकर नहीं बैठता क्योंकि अपने दैव-स्वामित्व को वह पहचान लेता है। अतः भाग्य उसका स्वामी नहीं, वह भाग्य का निर्माता होता है।

संसार में भाग्यवादियों और पुरुषार्थियों के दो पृथक् शिविर हैं। दैवशिविर के लोग प्रतिदिन उठकर भाग्य की कृपाओं की याचना करते हैं और पुरुषार्थी खेमे का व्यक्ति स्वयं सफलताओं को ढूंढकर खींच लाता है। एक (भाग्यवादी) अन्धकार में अपना भविष्य टटोलता है और दूसरा (उद्यमी) अपने बाहुबल की मशाल जलाकर निर्धारित योजनाओं के मार्ग पर चल पड़ता है।

जीवात्मा में श्रम की शक्ति स्वाभाविक है। चन्द्रमा को शीतल होने के लिए हिमालय की शिलाओं पर नहीं उतरना पड़ता, जन्म के उपरान्त माँ का दूध ढूंढनेवाले को पुरुषार्थ मार्ग की पगडंडियों का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं होती। 'बया' नामक पक्षी का घोंसला देखकर आश्चर्य होता है। मकड़ी अपनी 'लार' से जो जाला बुनती है उसके सूत्र कितने बारीक होते हैं। 'कंगारू' के बालक भयजनक परिस्थिति का आभास पाते ही माँ के उदर की खोल में छिप जाते हैं। समुद्र में तूफान उठने की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वसूचना मिलते ही मछलियाँ उसके अतल तल में बैठ जाती हैं। प्रातःकाल की वेला में कुक्कुट अपने आप 'बाँग' लगाने लगता है। इन सबको किसने शिक्षित किया। यह उद्यम की प्रवृत्ति प्राणियों के स्वभाव में स्वतः विद्यमान है। मछली को यदि तैरने की शिक्षा देना आवश्यक नहीं तो मनुष्य को अथवा कहना चाहिए प्राणीमात्र को उसके उद्यम का मार्ग बताने की आवश्यकता नहीं। प्राणियों के लिए पुरुषार्थ के मार्ग प्रकृति से जाने-पहचाने हैं।

मनुष्य को छोड़कर शेष प्राणियों में केवल पुरुषार्थ की ही अथक लगन देखी जाती है। चीटियां निरन्तर अपने बिलों में से मिट्टी के लघु-लघु कण उठाकर बाहर फेंकती रहती हैं। महापराक्रमी वनराज भी अपनी क्षुधाशान्ति के लिए पुरुषार्थ करता है। परन्तु मनुष्य कथंचित् फलनेवाले 'नियतिवाद' को देखकर अपनी अकर्मण्यता से दैवाश्रित होने की अभिलाषा करने लगता है। यहाँ पुरुषार्थ और सफलता में 'कार्य-कारण' भाव है। सफलतारूपी कार्य पुरुषार्थ की कारणता चाहता है। पुरुषार्थ पात्र है और सफलता उसमें रखा जानेवाला पदार्थ। मनुष्य को पात्रता के लिए प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि पात्र में ही सम्पदाएँ आती हैं। सफलतारूपी सम्पत्ति अर्जित करने के लिए पुरुषार्थरूपी पात्र की पात्रता अपेक्षित है। 'आप्तमीमांसा' में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं – "यदि दैव से ही कार्यसिद्धि होती हो तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है और दैव से ही यदि मोक्ष-लाभ हुआ करे तो मुक्ति के लिए किया हुआ पुरुषार्थ निष्फल हो जाएगा। और यदि पुरुषार्थ मात्र से कार्यसिद्धि मान ली जाए तो पौरुष को सब-कुछ मानना होगा और वैसी स्थिति में जो भी पुरुषार्थ करेगा उसे सफलता मिलनी ही चाहिए। किन्तु देखने में आता है कि समान पुरुषार्थ करनेवालों को भी भिन्न फल की प्राप्ति होती है। अतः यह मानना चाहिए कि पुरुषार्थ और दैव दोनों ही कार्यों की सफलता में कारण हैं। दैव शुभ-अशुभ कर्मों से बनता है। वही पुरुषार्थसिद्धि में सहयोगी होकर सफलता-असफलता प्रदान करता है। जो पुरुष सदैव शुभकर्म का बन्ध करता है उसे पुरुषार्थ करने पर तुरन्त सफलता मिलती है और जो पापकर्म के बन्ध अधिक करता है वह अधिक पुरुषार्थ करने पर भी उसके अनुकूल भूरिफलों को प्राप्त नहीं कर पाता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसे पुण्य और पापकर्मों के परिणाम पुरुषार्थ करने पर भी दैव के नियंत्रण में रहते हैं।

जैन परिभाषा में 'श्रमण' शब्द का अर्थ श्रम की प्रतिष्ठा करनेवाले के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो साधु हैं, वे ही सच्चे 'श्रमण' हैं। अपने चारित्रश्रम से उत्तमकोटि का पुरुषार्थ करते हुए वे मोक्ष-साधना करते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें सभी पुरुषार्थ धर्म को मूल मानकर प्रवृत्त होते हैं। अर्थ का उपार्जन धर्ममूलक होना चाहिए, काम का सेवन धर्मानुकूल होना आवश्यक है। यदि काम और अर्थ के लिए धर्मसम्बन्ध अपेक्षित नहीं रहेगा तो काम उच्छृंखल होकर प्रजाओं में व्यभिचार उत्पन्न करेगा और अर्थ का संबंध धर्म से रहित हो जाएगा तो अर्थसंग्रह करनेवाले येन-केन-उपायेन मांसविक्रय से, गोवध से, मिथ्याचार से, पाप-कपट-चौर्य से पुष्कल अर्थार्जन करने लगेंगे और वृत्ति की पवित्रता समाप्त हो जाएगी। एक शिक्षक के विषय में सुनने में आया है कि उनकी कक्षा का निरीक्षण करने के लिए निरीक्षक महोदय पहुँचे तो छात्रवर्ग पढ़ने के 'मूड' में नहीं था और इधर-उधर की बातें कर रहा था। निरीक्षकजी ने शिक्षक से इसकी शिकायत की तो शिक्षक बोला इन्हें इस वर्ष का पाठ्यक्रम पढ़ा दिया गया है, आप पूछें, देखें कितना तैयार है? पूछने पर सभी छात्रों ने अत्यन्त सन्तोषजनक उत्तर दिये। प्रसन्न होकर निरीक्षक ने उस शिक्षक की वेतनवृद्धि के लिए शिक्षा विभाग को अपनी 'सिफारिश' की। जब यह सूचना उस शिक्षक को मिली तो वे 'शिक्षाविभाग' में जाकर अधिकारी से प्रार्थना करने लगे कि उनका मासिक वेतन न बढ़ाया जाए, क्योंकि 'विद्या को बेचकर जो पाप मैं कर रहा हूँ उसमें वृद्धि करना नहीं चाहता।' उन्होंने अधिकारी को 'राम दुहाई' शब्दों में शपथ दिलाते हुए निषेध कर दिया। यहाँ अर्थोपार्जन में धर्म का नियंत्रण ही कारण है।

आज धर्म का संबंध पूजा-पाठ से रह गया है वे अर्थव्यवसाय में उसे सम्मिलित नहीं करते। परिणामस्वरूप उनके व्यवसाय भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये हैं और वे काम-भोगों में भी धर्म को साझीदार नहीं करते अतः उनके व्यभिचार की प्रवृत्तियाँ नित्य ही उग्र रहती हैं। सच तो यह है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म से ही अर्थ और कामनाओं का सेवन करना उचित है। धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ है। धर्माचरण से ही धर्म का उपार्जन करना चाहिए। अग्नि से अग्नि जलाई जाती है और दीपक से दीपक जलाया जाता है। धर्म से ही धर्मचिंतन करना उचित है और दूसरे पुरुषार्थों को भी धर्म द्वारा ही साधना चाहिए। मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को धार्मिक श्रम करते हुए 'श्रमण' मुनि साधते हैं। इसी से उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः पुरुषार्थ के मूल में धर्म ही है। बिना धर्म के कोई पुरुषार्थ नहीं। दैव और पुरुषार्थ धर्म के ही अंग हैं। मनुष्य को आत्मधर्म का पालन करते हुए सतत परिश्रम में लगा रहना चाहिए और यदि परिश्रम के साथ-साथ दैव भी फलता है तो उसे भी परिश्रम का अतिरिक्त पुरस्कार मानकर स्वीकार करना चाहिए। दैव की उपासना अकर्मण्य होकर नहीं, पुरुषार्थ-परायण होकर करने का स्वभाव होना चाहिए। अपने परिणाम का सफल भाग पुरुषार्थ को और असफल भाग दैव को देकर पुनः शेष की सफलता के लिए प्रयत्नसंकल्पी रहना चाहिए। जाप करते हुए को पाप नहीं लगते और पुरुषार्थ करते हुए को निराशा का मुख नहीं देखना पड़ता। अनेकान्त दृष्टि से दैव और पुरुषार्थ को परस्पर एक-दूसरे का पूरक मानने में विरोधी भावों का परिहार है। पुरुषार्थ पुरुष का श्रम है और दैव उसमें सुगन्धि है। मनुष्य को अपने श्रम की प्रतिष्ठा करने में नहीं चूकना चाहिए। यदि दैव की सुगन्धि उसमें आकर मिलती है तो बहुत अच्छा और न भी मिले तो पुरुषार्थ का परिणाम अपने आप में सुगन्धि से अधिक मूल्यवान है।

दो पात्र समानरूप से आधे-आधे भरे हुए हैं। उनमें एक भाग्यवादी के हाथ में है और दूसरा पुरुषार्थ-परायण के। भाग्यवादी अपने भाग्य को कोसते हुए कहता है कि मेरा आधा पात्र खाली है किन्तु पुरुषार्थी कहता है मेरा आधा पात्र भरा हुआ है। एक निराशावादी है और दूसरा आशावादी है। आशावादी उसकी पूर्णता की ओर लक्ष्य करता है तथा निराश हुआ दैववादी आधे खाली होने को रोता है। इस संसार में जन्म के साथ ही पिता, पुत्र परिवार, सुख, दुःख, भोग, क्लेश आदि कर्मबन्ध से उदय में आते हैं। अनन्त मनुष्यों के कर्म-फल को देखकर यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस कर्म के परिणामों का भोक्ता मनुष्य यदि दैववाद के चक्कर में पड़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है तो द्वार पर आये हुए पुरुषार्थ के अवसर लौट जाते हैं, क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। एक बूढा व्यक्ति लकड़ी के सहारे चलता है। उसके चलने में लकड़ी उदासीन है। यदि वह लकड़ी को ही अपने चलने में मुख्य मान ले तो क्या यह उचित है? यदि लकड़ी स्वयं गति दे सकती तो मृतक को भी उसका अवलंबन मिल जाता। बिना पुरुषार्थ के भाग्य का आश्रय लेना भी इसी प्रकार है। अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्माण करनेवालों ने भाग्य की रेखा को वज्रसंकल्पों से मिटा दिया है। उनके उत्थान का सूर्य उनके पुरुषार्थ की मुट्ठी में है। अतः मनुष्य के कर्म ही, उसका पुरुषार्थ ही उसे निर्धन या सधन, सम्पन्न या विपन्न बनाता है। मानव अपना निर्माता स्वयं बने इसके लिए पुरुषार्थपरायणता पहली प्रतिज्ञा है। दैव के दुर्ग का ध्वंस करके पुरुषार्थ के प्रासाद का निर्माण किया जाता है। 'अल्बाट्रास' नामक पक्षी महासमुद्रों पर चार अहोरात्र (चार दिन और चार रात) एक गति से उड़ता है और बिना सोये, बिना थके, बिना विश्राम लिये निरन्तर सत्रह सौ मील उड़ान भरता है। जो भाग्यवादी महान् कार्यों की विशालता से भीत होकर कहते हैं कि 'भुजाओं से समुद्र को किसने तरा है?' उनके लिए 'अल्बाट्रास'[१] पुरुषार्थ का दूसरा नाम है – स्मरण रखना चाहिए। भाग्य के भरोसे जीनेवाला अकिंचित् कार्यों को भी 'असम्भव' कहता है और पुरुषार्थपरायण की शब्दावली में आत्मपराजय ध्वनित करनेवाला कोई शब्द नहीं है। एक नीतिकार कहता है – जो क़मर बांधकर तत्पर हो जाता है उसके सामने पृथिवी अपने विस्तार को सिकोड़ लेती है, समुद्र क्षुद्र नदीप्रमाण बन जाते हैं, पाताल उठकर पृथ्वी के बराबर आ जाता है और सुमेरु पर्वत मिट्टी के ढेले के समान हो जाता है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने कहा है कि – '...... काललब्धि वा होनहार तो किछु वस्तु नांहि। जिस कालविषैं कार्य बनैं सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। (अतः) उपदेश तो शिक्षा मात्र है, फल जैसा पुरुषार्थ करै तैसा लागै।' शुभम्।

---

१. देखिए, 'स्वराज्य' साप्ताहिक, पूना के १ अक्टूबर, १९६० अंक में प्रकाशित लेख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहिले तोलो, फिर बोलो

– आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

वक्ता की अभिव्यक्ति उसकी वाणी में निहित है। कौन क्या है? इसका पता उसकी वाणी से चल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों की अभिव्यक्ति चाहता है और उसके लिए शब्दों और भाषा का चयन करता है। वह उन्हीं शब्दों को चुनता है जिनके माध्यम से उसके भावों की अभिव्यक्ति हो सके। वे शब्द ही वक्ता के व्यक्तित्व को कह देते हैं। जैसे कमल को पंक छू भी नहीं सकता उसी प्रकार उत्तम वक्ता की जिह्वा को अपशब्द स्पर्श नहीं कर पाते। सरस, विमल जलाशय को जैसे राजहंस पक्षी घेर लेते हैं, उसी प्रकार उसमें वक्ता सुसंस्कृत शब्दराशि का प्रयोग करता है। वक्ता उन शब्द-पक्षियों के पंखों पर अपनी भावराशि को विराजमान कर श्रोताओं के देश को भेजता है। उन शब्दों में वक्ता का हृदय छिपा रहता है, उसके सामर्थ्य का संकेत मिलता है। कहा है कि –

"सत्कुल में उत्पन्न व्यक्ति की हथेली में कमल नहीं होता और अकुलीन के मस्तक पर शृंग नहीं उगता। किन्तु जब कोई वाणी बोलता है तब उसकी जाति और कुल का प्रमाण मिल जाता है।"

वाणी के मूल में 'वाण' निहित है। जिस प्रकार व्याध बाण से पक्षियों की हिंसा कर देता है उसी प्रकार अपने कुल और जाति को प्रमाणित करता हुआ कोई जब हृदय को आघात पहुँचानेवाली वाणी का प्रयोग करता है तो उसका परिचय स्वतः श्रोता को मिल जाता है। वक्ता की लोक 'कसौटी' हैं। बड़े-बड़े शास्त्रधुरन्धर भी लोकव्यवहार का परिज्ञान न होने से असफल सिद्ध हो जाते हैं। वक्ता को नित्य ही लोकजीवन के सम्पर्क में आना होता है। वह अपनी वाणी के रूप में सदैव लोक के मानस-नेत्रों में रहता है। जो मनुष्य मूक रहता है उसके विषय में आलोचना करनेवाले चाहे न मिलें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु जो बोलता है उसके बारे में अपनी राय कायम करने में लोग नहीं चूकते क्योंकि मौन रहनेवाला अपने व्यक्तित्व को कूर्म के समान प्रच्छन्न (निगूढ) रखता है इसलिए उसके सुन्दर या विकृत अंगों पर लोकदृष्टि नहीं जा पाती किन्तु बोलनेवाला अपने अभ्यन्तर को व्यक्त करता रहता है। अतः उसके विषय में अपना मत, मन्तव्य कल्पित करना सहज हो जाता है।

धारावाहिकता वक्ता के गुणों में प्रथम है। किसी विषय पर बोलते समय बीच-बीच में रुकना, विषयान्तर होना या कहते हुए विषय को बार-बार दोहराना, पिष्टपेषण करना अथवा विषय की क्रमबद्धता को स्थिर नहीं रख पाना ये वक्ता के दोष हैं। यदि विषय के अनुकूल भाषा न बोली जाएगी तो समझ में न आने के कारण श्रोता विरक्त हो जाएंगे। यह दोष श्रोताओं का नहीं, वक्ता का होगा। जब तक सुननेवाले सभासद् विषय को नहीं समझ पावें तब तक वक्ता का ही दोष मानना होगा। वक्ता के आवश्यक गुणों में श्रोताओं का अध्ययन सम्मिलित है। सभा का विषय क्या है? श्रोता कैसे हैं? किस भाषा में निपुण हैं? किस विषय को सुनना पसन्द करते हैं? इन सबको जानकर ऋत, मित, मधुर शब्दों में अपने वक्तव्य को प्रस्तुत करनेवाला कभी असफल नहीं हो सकता और इसके विपरीत श्रोताओं की रुचि, बौद्धिकस्तर को न समझनेवाला व्यक्ति अनेक शास्त्रों में निपुण होने पर भी सभामंच को स्थिर नहीं रख सकता। सफल वक्ता की सभा में शान्ति रहती है। श्रोताओं के समूह जैसे लोहा चुम्बक की ओर खिंचता है, वैसे खिंचे चले आते हैं। उनकी सारी इन्द्रियां उस समय श्रोत्रेन्द्रिय में आकर बैठ जाती हैं।

जो धर्मकथा कहने के लिए सभामंच को अलंकृत करे उस मुनिको विद्वान्, समस्त शास्त्रों के हृदय को जाननेवाला, लोकमर्यादाओं को समझनेवाला किसी प्रकार की आशा न रखनेवाला, प्रतिभावान्, इन्द्रियसंयमी और प्रश्न के पूर्व ही उसके उत्तर को भलीभाँति देखा हुआ होना चाहिए। साथ ही वह प्रश्नों की बौछार में विचलनेवाला न हो, अधिकारसहित सभा पर नियंत्रण रखने में कुशल हो, सभा का हृदय जीतनेवाले मिठास से बोलता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो, पर-लांछन न करते हुए अपनी बात का समर्थक हो और अक्षरों के माधुर्यगुणों का रक्षक हो, उसे ही सभा में बोलने का आशीर्वाद आचार्य ने दिया है।

जैसे अन्न के भूसे को सूप से फटककर ही उपयोग में लिया जाता है, उसी प्रकार अपशब्द को प्रयोग में न लाते हुए जो बोलता है वह वाणी की प्रतिष्ठा करता है। कल्पवृक्ष के समान वाणी उसे फलदायिनी होती है। लोक उसे मधुरभाषी कहते हैं। मिष्टवाणी को कौन नहीं चाहता? लोक कल्याणी भाषा सुनना चाहता है और जो इस विशिष्ट वाणी की उपासना करता है वह लोक को वश में करने की क्षमता रखता है। पं. दौलतरामजी ने 'छहढाला' में भाषासमिति प्रकरण में लिखा है –

जग सुहितकर सब अहितहर
श्रुतिसुखद सब संशय हरै।
भ्रमरोगहर जिनके वचन
मुखचंद्र तैं अमृत झरै॥

मधुरभाषिता लोक वशीकरण का अमोघ मंत्र है। बहुत से लोग उपदेश को भी कठोर शब्दों में सुनना पसन्द नहीं करते। इसीलिए उपदेश की कटुता को मृदु करने के लिए व्याख्याता बीच-बीच में मन को आकर्षित और प्रफुल्ल करनेवाली सूक्तियों और कथाओं का आश्रय लेते हैं। 'कुनैन' की गोलियों को शक्कर में लपेटकर देने से उनकी कड़वाहट प्रतीत नहीं होती। ऐसे ही उपदेशवाणी को भी मधुर, संयत और आह्लादक धर्म से विभूषित करना अधिक उपादेय सिद्ध होता है।

जिस प्रकार लोकरंजन राजा के लिए कठिन है उसी प्रकार सभारंजन वक्ता के प्रभुत्व की पहचान है। सभासदों की रुचि को न पहचान कर किसी नितान्त व्यक्तिगत, रूखी अथवा मूल विषय से हटकर चर्चा को विस्तार देने से श्रोता ऊबकर उठने लगते हैं या परस्पर बातचीत करने लग जाते हैं। अतः सभायोग्य वाणी को पहचानना वक्ता का आवश्यक गुण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार का उद्धार करने की अभिलाषा लेकर लोकहितकारी सन्त वक्ता तो बहुत ढूंढने पर मिलते हैं। उन्हीं के उपदेशश्रवण से प्राणियों का हित होता है। अहित दूर होकर कल्याण-मार्ग के दर्शन होते हैं। प्राचीन काल में अनेक आचार्यों ने परिभ्रमण करते हुए अपनी समर्थ सम्यक् जिनवाणी से लोक में धर्मप्रभावना की है – उन्होंने अपनी वाणी-सामर्थ्य से लोक को उत्तम परिणामी बनाया है और मोक्ष-मार्ग से परिचित किया है। भव्य श्रोता उनकी वाणी के रथ पर आरूढ़ होकर धर्म के नन्दनवन में पहुँच जाते हैं। ऐसे वक्ताओं में आचार्य अकलंकदेव और आचार्य समन्तभद्र का नामोल्लेख किया जाता है।

करहाटक के राजा को उसकी विद्वत्परिषद् में उपस्थित होकर आचार्य समन्तभद्र ने चुनौतीभरे स्वर में कहा – 'पहले मैंने पाटलीपुत्र में जयभेरी बजाई फिर मालव, सिन्धु, ठक्क (ढाका) देश, कांचीपुर और विदिशा और वादभिक्षा के लिए घूमा। हे राजन्! अब मैं भटों से युक्त, विद्या से उत्कट तथा अल्प विस्तारवाले आपके करहाटक नगर में आ पहुँचा हूँ। मैं सर्वत्र निर्द्वंद्व, सिंहवृत्ति से वाद करने के लिए विचरण कर रहा हूँ।' धर्मप्रभावना के लिए आचार्य अकलंकदेव ने बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया था।

श्री एम.एस. रामस्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज़ इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' में लिखा है – 'समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्म-प्रचारक थे, जिन्होंने जैन सिद्धान्तों और जैन आचारों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का उद्योग किया है। जहाँ कहीं वे गये उन्हें दूसरे सम्प्रदायों की तरफ से किसी भी विरोध का सामना करना नहीं पड़ा।' आचार्य समन्तभद्र को दिग्विजय जैसी यह सफलता बिना किसी विरोध के मिल सकी, इसमें उनकी निरभिमान, मधुर तथा लोकोपकारपरायण भावना से अनुप्राणित अनुपम वादशैली परम सहायक रही।

अक्षरबोध करानेवाला शिक्षक शिशु छात्र को अ, आ, इत्यादि सिखाता है और अनेक बार अभ्यास कराते हुए विद्यार्थी पर झुंझला जाता है। किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभी अक्षरबोध सीखता हुआ बालक शिक्षक के समान द्रुतगति से 'वर्णमाला' कैसे लिखे? वक्तृत्वसिद्धि के लिए भी इसी प्रकार छात्रावस्था से निकलकर 'गुरु' बनते दीर्घकाल लगता है। इच्छित विषय पर अर्थपूर्ण शब्दों का ज्ञान बड़ी तपःसाधना से हो पाता है। चन्द्रमा भी चाहने पर एक ही दिन में सोलह कलावाला नहीं हो सकता। 'कला' शब्द का अर्थ ही भाग, अंश, खण्ड इत्यादि है। प्रतिदिन कलासंयुक्त वक्ता चन्द्रमा के समान पहले दिन कुमुदिनी को खिलाता है और पर्वदिवस आते-आते वह महासमुद्रों के मानस को उद्वेल्लित कर देता है। इसी क्रम से साधुवक्ता भी अपनी वाणी से परिपक्व होकर ही जनसमुद्र को प्रसन्न, तरंगित कर सकता है। जैसे समुद्र में कल्लोल उठाने की कला चन्द्रमा को ज्ञात है उसी प्रकार जनमानस को भावविभोर करने का कौशल अच्छे वक्ता को सिद्ध होता है। वह शब्दों के अन्तःकरण को पहचानता है। किस समय, कौन शब्द श्रोताओं के हृदय को विकसित कर सकता है और कौन शब्द विरक्त कर सकता है, इसे वह अच्छी तरह से पहचानता है। इसी गुण के कारण वक्ता के साथ श्रोता समरस हो जाते हैं। इस तत्व को जो नहीं जानते वे सफलता से वंचित रहते हैं। प्रवचन का प्रारम्भ और समाप्ति निर्धारित समय पर होने आवश्यक हैं। नहीं तो लोग देर तक आएंगे अथवा नहीं आएंगे। यदि सूचित किये हुए समय से विलम्ब कर प्रवचन आरम्भ करेंगे तो श्रोता घर से ही देरी से चलेंगे और ठीक समय पर समाप्त न करेंगे तो नित्य के कामकाजी आदमी दूसरे दिन आने में आग्रह नहीं रखेंगे। आज के व्यस्त युग में घड़ी को कार्यक्रम से मिलाना सफलता का प्रथम पाठ है। श्रोताओं को विश्वास होना चाहिए कि वक्ता नियत समय पर व्याख्यान आरम्भ कर देंगे, हम पहुँचे या न पहुँचे। तब वे पहुँचने लगेंगे।

किसी स्थान पर अनेक दिनों तक बोलना पड़े, वहाँ वक्ता के संचित ज्ञानकोष की पहचान होती है। ऐसे स्थानों पर अवसरवादी नहीं, स्वाध्यायवादी टिक सकता है। जैसे मौलिश्री वृक्ष प्रतिदिन बासी पुष्पों को गिराकर नये-नये पुष्प शाखाओं पर खिलाता रहता है उसी प्रकार सद्वक्ता श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कमल सूखता नहीं, क्योंकि उसका मूल पानी में है और श्रेष्ठ वक्ता विषय, शब्द और नये कथन के लिए दीन नहीं होता क्योंकि उसका मूल 'ज्ञानार्णव' में है। ऐसे वक्ता नित्य ही अपूर्व बोलते हैं, सदा ही उनका स्तर ऊँचा रहता है और उनकी वाणी से मोह अन्धकार नष्ट हो जाते हैं।

सद्वक्ता लोकमानस में व्याप्त निराशा, अनुत्साह, मोह और मिथ्यात्व को दूर कर उसमें उत्साह, ज्ञान और सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा करता है। उसके प्रत्येक पद से विश्वास की ध्वनि निकलती है, आत्मचेतना के छन्द गूँजते हैं, विवेक और धर्मानुराग के भाव प्रकट होते हैं। श्रेष्ठवक्ता की वाणी जनमानस के पापरूपी कीचड़ को धोने के लिए धर्मरूपी झरने के समान है और कायर हृदयों में ओजस्विता भरनेवाली है।

कमल पर गिरती हुई सूर्य की प्रखर किरणें उसे खिला देती हैं। गुरु भव्यजनों को यदि प्रकरणवश कठोर शब्दों में भी कहें तो उसमें भी उनका विकास है। गुरु के वचनों को सुनकर जीवन धन्य हो जाता है। मरणशील अमर बन जाता है। उनका तप, संयम और चारित्र शंकाओं को टिकने नहीं देता। भाषासमिति का पालन करने से श्रमणमुनियों की वाणी प्रभावशील होती है। कन्नड़ भाषा में एक कवि ने कहा है –

कालदोष से नमक का क्षारत्व नष्ट हो सकता है, कर्पूर काला हो सकता है किन्तु श्रमणमुनियों का वचन कभी कठोर नहीं हो सकता। वास्तव में सत्यमहाव्रत का पालन करनेवाले त्यागी अल्पभाषिता से अपने वचनों की प्रामाणिकता के लिए विख्यात हैं। यद्यपि वे हित-मित और सारवचन ही बोलते हैं किन्तु अपेक्षाभेद से किसी को 'अमृत' और किसी को 'करेला' के समान प्रतीत होते हैं। सूर्य की किरणें तो वे ही हैं जो कमलवन को विकसित करती हैं किन्तु कुमुद मुरझा जाता है और उलूक की आँखें अन्धकार से घिर जाती हैं। यहाँ ग्राहकभेद से परिणामभेद हो जाता है। आचार्य समन्तभद्र की वक्तृता से धर्माभिरुचि जनमानस तो प्रसन्न-गद्गद हो जाता था; किन्तु वे ही वचन कुमतिशीलों पर वज्रपात थे।

जिसके मुख में मधुरता का अक्षय स्रोत है वह भी यदि कटुवादी है तो मानो, हाथ के मीठे फलों को छोड़कर वह खट्टे फलों को खाता है। साधु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वक्ता अपनी वाणी से श्रोताओं को सम्यक्त्व की ओर ले जाता है। स्वयं सद्मार्गी होकर दूसरों को उसी पथ का पथिक बनने की प्रेरणा देता है। 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' उसका धर्म नहीं सन्त तुकाराम का कथन है – 'जो जैसा बोलता है वैसा ही चलता है उसके चरणों को वन्दना है', क्योंकि बोलना सरल है चलना (आचरण करना) कठिन है।

वक्ता के व्याख्यान से लाभ उठानेवाले श्रोताओं में कुछ राजहंस पक्षी के समान होते हैं जो सार-ग्रहण के लिए अपने अवधान के चंचुपुटों को तत्पर रखते हैं। कुछ कच्ची 'ईंट' के समान भी होते हैं। पानी बरसा तो गीली हो गई और सूर्य की किरणें लगीं कि सूखकर सख्त, जैसी पहले थी वैसी ही, पानी के असर से बेभान। सभा में बैठे तो भावप्रवाह में ऐसे बहे कि कभी रोये और कभी हँसने लगे। बाहर निकले, मुँह धोया और वैसे ही कूटस्थ। श्मशान-वैराग्य के समान। परन्तु इन दोनों से भिन्न तीसरे श्रोता तो चलनी या कंघी के समान हैं जो व्याख्यान के उत्तम अंश को भी ग्रहण नहीं कर पाते। बेचारों के पल्ले में तुष या मैल ही रह पाता है। कमल-भरे तालाब में उन्हें कीचड़ ही हाथ लगता है। सम्यक् वक्ता को हितमित-भाषी होकर परमार्थ का पथ-संकेत कर देना पर्याप्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi